हिंदी-कारकों का विकास

शिवनाथ, एम० ए०

120

हिंदी-कारकों का विकास

शिवनाथ, एम्० ए०

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक : दुर्गादत्त त्रिपाठी, सन्मार्ग प्रेस, काशी
प्रथम संस्करण : १००० : सं० २००५: मू० २॥)

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक गुरुवर आचार्य श्री केशवप्रसाद मिश्र की देख-रेख में सन् '४०-'४१ में लिखी गई थी, अतः इसके प्रकाशन के अवसर पर मैं उन्हें नतमस्तक हो प्रणाम करता हूँ।

हिंदी-कारकों का विकास प्रस्तुत करते हुए मेरी दृष्टि संस्कृत, प्राकृत, पालि और अपभ्रंश के कारक-प्रयोगों की परंपरा पर बराबर रही है—विशेषतः संस्कृत के कारक-प्रयोगों की परंपरा पर। इस प्रकार मैंने तुलनात्मक मीमांसा की पद्धति का अनुसरण किया है। हिंदी में कारक-प्रयोगों का विकास संस्कृत, प्राकृत, पालि और अपभ्रंश से आता हुआ किस प्रकार हुआ है, ग्रंथ का लक्ष्य यही दिखाना है। किसी भाषा के प्रयोग उसकी अनुपरंपरा में आई भाषाओं में तो मिलते ही हैं, बोलियों में भी मिलते हैं; किसी किसी में और कहीं कहीं आकर वा आधृत भाषा के प्रयोग बोलियों में ही सुरक्षित रहते हैं। हिंदी कारकों के विकास की मीमांसा करते समय मेरी दृष्टि बोलीगत कारक-प्रयोगों पर भी यत्र तत्र गई है—विशेष रूप से बनारसी बोली में आए कारक के कुछ विशिष्ट प्रयोगों पर।

कारक-प्रयोगों के उदाहरण मान्य रचयिताओं के ग्रंथों से ही गृहीत हैं। स्वनिर्मित उदाहरण दस-बीस ही होंगे। ऐसा करने से कारक प्रयोगों के विकास की श्रेणियाँ भी यत्र तत्र संमुख लाई गई हैं। हिंदी के कारकों के प्रयोगों के विकास की मीमांसा में इस तत्त्व पर दृष्टि रखी गई है।

हिंदी में कुछ स्थल ऐसे प्राप्त हैं जहाँ एकाधिक कारक-परसर्गों के प्रयोग के कारण अर्थ-भेद उपस्थित होता है। मेरी दृष्टि ऐसे स्थलों की मीमांसा पर भी बराबर रही है।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रायः सभी संस्कृत के उदाहरण डा॰ जे॰ एस॰ स्पीजर कृत 'संस्कृत सिंटैक्स' से लिए गए हैं। पुस्तक की रूपरेखा के निर्माण में भी उससे प्रेरणा मिली है। अतः मैं उक्त विद्वान् लेखक का कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक प्रकाशन की स्वीकृति के लिये मैं 'सभा' के अधिकारि-वर्ग का अनुगृहीत हूँ, विशेष रूप से साहित्य-मंत्री संमान्य गुरुवर श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र का। पुस्तक को शीघ्रातिशीघ्र मुद्रित कराने में मेरे मित्र श्री शंभुनाथ वाजपेयी ने जो सतर्कता दिखाई है, उसके लिये उन्हें बहुत-बहुत धन्यवाद।

नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी
वासंतिक नवरात्र,
संवत् २००५

शिवनाथ

विषय-सूची

१.	भाषा	१
२.	कारक	१३
३.	कर्त्ता कारक	२३
४.	कर्म कारक	२६
५.	करण कारक	३३
६.	संप्रदान कारक	४६
७.	अपादान कारक	५७
८.	संबंध कारक	८०
९.	अधिकरण कारक	११४
१०.	संबोधन कारक	१४७
११.	स्वतंत्र कारक	१४९
१२.	कारक-प्रयोग के कुछ विशिष्ट स्वरूप : कारक और उपसर्ग	१५८
१३.	कारक और निपात	१७७
१४.	निपात के रूप में सविभक्तिक नाम	१९६
१५.	कारक और कृदंत	२०३

लेखक के अन्य ग्रंथ

१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल

२. अनुशीलन

३. आधुनिक साहित्य की आर्थिक भूमिका

हिंदी-कारकों का विकास

हिंदी-कारकों का विकास

[१]

भाषा

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

—वाक्यपदीय

§ (१) जब हम भारतीय दर्शन के प्रस्थान से भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते हैं तब इस विषय में आधुनिक भाषा-शास्त्रियों की विवादग्रस्त स्थापनाओं (Theories) का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसका कारण यह है कि इनकी भित्ति भौतिक है और भारतीयों की भित्ति अभौतिक अथवा नित्य। इनके इस विषय के सभी वाद[१] व्यवहारतः भूत और उसकी शक्ति को ही लेकर चलते हैं, इनमें बुद्धि का प्राधान्य होने से ज्ञान के गर्ववश ये अदृश्य शक्ति तक अपनी दृष्टि तनिक कम दौड़ाते हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार भाषा का मूल[२] शब्द आकाश का गुण है,

---

१. आधुनिक काल में भाषा की उत्पत्ति के विषय में प्रधानतः चार वाद प्रचलित हैं—

(क) अनुकरणमूलकतावाद (Theory of Onomatopœia or Bow-bow Theory), (ख) मनोभावाभिव्यंजकतावाद (Interjectional Theory or Pooh-pooh Theory), (ग) यो-हे-हो-वाद (Yo-he-ho Theory)—Noire, (घ) डिंग-डैंग-वाद (Ding-dang Theory)—Max Muller.

२. भाषा के चरमावयव पर हम आगे विचार करेंगे।

जो एक, विभु तथा नित्य है[१]। प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक शब्द को नित्य मानते हैं, क्योंकि इसका गुणी आकाश नित्य है। सृष्टि के उपादानों में इसके (शब्द के) गुणी का नाम भी सर्वप्रथम आता है और इसी की व्यवस्था पहले करनी पड़ती है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।...

—तैत्तिरीयोपनिषद्।

उपर्युक्त अत्यल्प विवेचन से हमारा तात्पर्य यही है कि भारतीय दृष्टि से भाषा का मूलाधार शब्द का बड़ा प्राधान्य तथा महत्त्व है; यह नित्य है, और जब यह नित्य है तब इसकी उत्पत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जिसका नाश ही नहीं होता उसकी उत्पत्ति क्या होगी।[२]

§ (२) भाषा की उत्पत्ति से ही सटा हुआ एक प्रश्न यह भी है कि सर्वप्रथम भाव का आविर्भाव हुआ वा भाषा का। कुछ भाषा-शास्त्री भाव की उत्पत्ति पहले मानते हैं और भाषा की इसके पश्चात् और कुछ विद्वानों का मत ठीक इसके विपरीत है। पर भारतीय दृष्टि से भाव तथा भाषा वा वाचा की उत्पत्ति एक साथ होती है। मन में जो जो

---

१. शब्द गुणकमाऽऽकाशम्। तच्चैकं, विभु, नित्यं च।

—तर्कसंग्रहः (अन्नंभट्ट)।

२. हिंदी के निर्गुणिएँ संत कवियों के प्रायः सभी पंथों का यह विश्वास है कि सर्वप्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई। वे आकाश के प्रथम स्पंदन (First vibration of the eather) को 'शब्दब्रह्म' (=अनाहत नाद) मानते हैं और समाधि की अवस्था में उसी का अनुभव करते हैं—पंषि उडानीं गगन कूँ उड़ी चढ़ी असमान। जिहि सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान। (कबीर-ग्रंथावली) सर = शब्दब्रह्म = अनाहत नाद।

भाव वा विचार उठते हैं वे वाचा द्वारा प्रकट हो जाते हैं। यजुर्वेद के ब्राह्मण का वचन है—

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति…। यहाँ वाक् और अर्थ की स्थिति एक साथ मानी गई है, पहले-पीछे नहीं[१]।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि भाषा की उत्पत्ति के विषय में भारतीय दृष्टि से विचार करने पर किसी भी प्रकार की उलझन उपस्थित नहीं होती।

§ (३) भाषा की उत्पत्ति पर अति संक्षेप में हमने ऊपर विचार किया है। हमने यह भी देखा है कि मनोभव विचार वा भाव भाषा, वाचा वा वाणी द्वारा व्यक्त होते हैं। तात्पर्य यह कि भाषा द्वारा मानव अपने को व्यक्त करता है, भाषा उसके हृदयगत वा मनोगत भावों वा विचारों को प्रकट करने का प्रधान साधन है; हाँ, बिना इसके प्रयोग के भी इनका प्रकाशन कभी-कभी विभिन्न आंगिक चेष्टाओं और मुद्राओं द्वारा भी हो सकता है[२]। ऐसा प्रायः तब होता है जब हमारे मन में विचारों वा भावों का बाहुल्य रहता है, जिन्हें वाणी वहन करने में असमर्थ होती है[३]। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि मन के विचार वाणी द्वारा तथा अन्य साधनों से भी व्यक्त होते हैं, वाणी ही इनकी अभिव्यक्ति का एकमात्र करण (वा साधन) नहीं है।

---

१. (क) वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।

—रघुवंश (कालिदास)।

(ख) गिरा अरथ जलबीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।

—मानस (तुलसीदास)।

२. अंतरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था गम्यंते अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च।

—महाभाष्य,२।१।१।

३. वाग्वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः। परिमिततरेव हि वाक।

—शतपथ ब्राह्मण, १।३।६।

ऐसी स्थिति में शास्त्रीय दृष्टि से भाषा का स्वरूप स्थिर करने में 'इदमित्थमेव' का प्रयोग कुछ कठिन-सा प्रतीत होता है। पर आधुनिक भाषा-शास्त्र की दृष्टि में 'भाषा एक क्रिया है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचारों तथा भावों को वाग्यंत्रों से उत्पन्न वर्णात्मक (अक्षरात्मक) ध्वनियों की सहायता से व्यक्त करता है[१]।' आधुनिक सभी भाषा-शास्त्री भाषा की परिभाषा अपने शब्दों में किसी न किसी रूप में इसी प्रकार की देते हैं। उनकी दृष्टि में भाषा मनुष्य के विचारों वा भावों की अभिव्यक्ति का साधन है, पर वे इसके लिये (विचारों वा भावों के प्रकाशन के लिये) प्रयुक्त आंगिक चेष्टाओं तथा मुद्राओं को भाषा नहीं मानते, वे विचारों की अभिव्यक्ति वाग्यंत्रों से उत्पन्न वर्णात्मक ध्वनियों द्वारा ही मानते हैं। कुछ विद्वान आंगिक चेष्टाओं तथा मुद्राओं को विचारों वा भावों की अभिव्यक्ति का करण मानते हैं, पर वे इन्हें इस कार्य के लिये गौण स्थान देते हैं। (पाद टिप्पणी में हम भाषा की परिभाषा के विषय में कुछ विद्वानों का मत उद्धृत करते हैं[२]।)

---

१. By language in general we mean human speech; that is, an activity or function whereby men express their thoughts and feelings by means of articulate sounds, uttered with their vocal organs.

—A. C. Woolner's Language in History and Politics, p. 24.

२. (क) Language may be defined as the expression of thought by means of speech-sounds. In other words, every sentence or word by which we express our ideas has a certain definite form of its own by virtue of the sounds of which it is made up, and has a more or less definite meaning.

—Henry Sweet's The History of Language, p. 1.

§ (४) अंक (१) में हमने शब्द को भाषा का मूलाधार कहा है। ऐसी स्थिति में शब्द का यदि शास्त्रीय अर्थ 'वर्ण-समूह' लिया जायगा तो ठीक न होगा; क्योंकि प्राच्य तथा प्रतीच्य सभी भाषा-शास्त्री भाषा का चरमावयव वाक्य मानते हैं। वहाँ 'शब्द' का तात्पर्य 'शब्द-समूह' (= वाक्य) से है, 'वर्ण-समूह' से नहीं।

तो, भाषा का चरमावयव वाक्य है, शब्द नहीं, यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से बिना शब्द के इसका अस्तित्व नहीं रह सकता। वाक्य को ही भाषा का मूल आधार मानना भी सकारण है, क्योंकि हमारे मन

(ख) The most general definition of language that can be given is that it is 'a system of signs'.........By signs, we understand all those symbols capable of serving as a means of communication between men.

—J. Vendryes's Language : A Linguistic Introduction to History, p. 7.

(ग) Language may be briefly and comprehensively defined as the means of expression of human thoughts

In a wider and freer sense, everything that bodies forth thought and makes it apprehensible in whatever way is called language.

Language, then, signifies rather certain instrumentalities whereby men consciously, and with intention, represent their thought, to the end, chiefly, of making. it known to other men; it is expressed for the sake of communication.

The instrumentalities capable of being used for this purpose, and actually more or less used, are various : gesture and grimace, pictorial or written signs, and

में जो विचार वा भाव उत्पन्न होते हैं वे वाक्य के ही रूप में उत्पन्न होते हैं, शब्द के रूप में नहीं; और यदि वे कभी शब्द के रूप में उत्पन्न भी होते हैं तो वह शब्द ही वाक्य वा वाक्यों का प्रतिनिधि स्वरूप होता है। प्रत्यक्ष रूप में हमारे विचारों का आदान-प्रदान भी वाक्यों द्वारा ही होता है। यदि हम बोलना भी सीखते हैं तो वाक्यों में ही[१]।

भारतीय भाषा-शास्त्री भी वाक्य को ही भाषा का मूल आधार मानते हैं। उनका कथन है कि शब्द वाक्य से अलग रहकर अपने अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकते, इसके लिये उन्हें वाक्य की ही शरण

---

uttered or spoken signs : the first two addressed to the eye, the last to the ear.

...Language...is the body of uttered and audible signs by which in human society thought is principally expressed, gesture and writing being its subordinates and auxiliaries.

—William Dwight Whitney's The Life and Growth of Language, pp. 1-2.

१. (क) ...But thinking is really an inner language in which the sentences are linked together just as in articulate speech.

—J. Vendryes's Language : A Linguistic Introduction to History, p. 64.

(ख) Like the verbal image the sentence is a basic element in language. Two people talking to each other exchange sentences. We learn to speak in sentences and think in sentences.

—वही, पृष्ठ ६८।

जाना होगा[१], इस प्रकार यहाँ भी भाषा का चरमावयव वाक्य ही ठहरता है।

§ (५) भाषा का चरमावयव वाक्य है, इस तथ्य के स्थिर हो जाने पर वाक्य के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा का उठना स्वाभाविक है। तो, अब हमें यह देखना है कि वाक्य क्या है।

अंक (४) के विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि हमारे मनोगत विचार वा भाव वाक्यों में अभिव्यक्त होते हैं। ये विचार वा भाव किन किन रूपों में प्रस्तुत होते हैं, इसका विचार करने पर वाक्य का स्वरूप संमुख आ जायगा, क्योंकि वाक्य इन्हीं को रूप देता है। साथ ही हमें यह भी देखना होगा कि इनकी अभिव्यंजना करनेवाले वाक्यों का सहायक कौन-सा तत्त्व (अर्थात् पद वा शब्द) है, और वह किस प्रकार का है।

हमारे मनोगत सभी विचार वा भाव स्थूलरूपेण तीन वा चार वर्गों में रखे जा सकते हैं, यद्यपि इनका (वर्गों का) लक्ष्य येनकेन-प्रकारेण एक ही होता है। ये वर्ग इस प्रकार के हो सकते हैं— (१) विधि-निषेधमय वर्ग, (२) प्रवृत्ति-निवृत्तिमय वर्ग, (३) संग्रह-त्यागमय वा आदान-विसर्गमय वर्ग और (४) अर्थवादमय वर्ग।

हम अपने भावों वा विचारों द्वारा या तो किसी वस्तु वा विषय की स्वीकृति देते हैं—विधान करते हैं या उसका निषेध करते हैं—

---

१. (क) वाक्यात् पदानामत्यंत प्रविवेको न कश्चन।

—वाक्यपदीय, १।७७।

(ख) वाक्यभावमबाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः।
संपद्यते शाब्दबोधो न तन्मात्रस्य बोधतः॥

—शब्दशक्तिप्रकाशिका, कारिका १२

उसे बरजते हैं। यदि अति संक्षेप में हमें अपना विचार प्रकट करना होता है तो हम या 'हाँ' कर देते हैं या 'नहीं'। यही विधि-निषेध है।[1]

किसी वस्तु वा व्यक्ति के विषय में हमारे विचार या तो प्रवृत्तिमय होते हैं या निवृत्तिमय। हम अपने विचारों द्वारा या तो प्रेरणा देते वा प्रेरित होते हैं अथवा उससे हटाते वा हटते हैं। अपने जीवन-व्यापार में हम किसी न किसी रूप में ये ही दो कार्य करते हैं[2]।

हमारे विचार कभी संग्रहमय होते हैं और कभी त्यागमय। हम अपने विचारों से प्रेरित होकर या तो किसी वस्तु वा व्यक्ति का संग्रह करते हैं या उसका त्याग।

इसी प्रकार हमारे विचार किसी वस्तु वा व्यक्ति के प्रति अर्थ-वादमय होते हैं। अर्थवाद की अभिधा है निंदा वा स्तुति। हम अपने विचारों द्वारा या तो किसी की निंदा करते हैं अथवा स्तुति, इनके (विचारों के) द्वारा या तो हम किसी के प्रति अपनी अप्रसन्नता प्रकट करते हैं अथवा प्रसन्नता। अप्रसन्नता होने पर हम उसकी ओर से हटते हैं और प्रसन्नता होने पर उसकी ओर बढ़ते हैं।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि इन सभी वर्गों के के मूल में 'हाँ' वा 'नहीं' अथवा 'प्रवृत्ति' वा 'निवृत्ति' ही स्थित है।

हमें यह विस्मरण न होना चाहिए कि ये प्रवृत्ति तथा निवृत्तिमय विचार वाक्य के द्वारा ही अभिव्यक्त होते हैं। और इनकी अभिव्यक्ति

---

१. गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'करम कथा' का 'विधि-निषेधमय' होना कहा है—विधि-निषेधमय कलि-मल-हरनी। करम कथा रविनंदिनि बरनी।

—मानस, बालकांड।

२. ईश्वर भी हमें या तो किसी वस्तु की ओर गति देता है या उससे बरजता है—तदेजति तन्नैजति।

—ईशोपनिषद, मं० ५।

में वाक्य के सहायक होते हैं पद वा शब्द। इसी कारण वाक्य की अति सामान्य परिभाषा करते हुए कहा जाता है कि शब्द-समूह को वाक्य कहते हैं।[१] पर, सभी प्रकार के शब्दों के उच्चय को वाक्य न कहेंगे; अंटसंट, अर्थहीन शब्दों में वाक्य-संघटना की योग्यता नहीं होती। जो पद वा शब्द अभीप्सित अर्थ व्यक्त करते हैं, जो पद वा शब्द अर्थ की आकांक्षा की निवृत्ति के योग्य होते हैं वे ही वाक्य को रूप देते हैं, उन्हीं की सहायता से वाक्य बनते हैं, अन्य प्रकार के शब्दों की सहायता से नहीं। तो, अभीप्सित अर्थ व्यंजक वा इष्ट अर्थ की आकांक्षा के निवृत्ति-योग्य पद वा शब्द-समूह को वाक्य कहते हैं।[२]

अब देखना यह रह गया है कि किस प्रकार का पद-समूह अभीप्सित अर्थ-व्यंजक होता है। अभीप्सित अर्थ-व्यंजना की क्षमता वाक्यगत उसी पद-समूह में होती है जो योग्यता, आकांक्षा

१. वाक्यं पद समूहः —तर्कसंग्रहः।

२. (क) पदसमूहो वाक्यं अर्थसमाप्तौ।

—न्यायसूत्रभाष्य।

(ख) पदानामभिधित्सितार्थ ग्रंथनाकरः संदर्भो वाक्यम्।

—काव्यमीमांसा।

(ग) मिथः साकांक्ष शब्दस्य व्यूहो वाक्यं...।

—शब्दशक्तिप्रकाशिका, १२।

(घ) साकांक्षाणां पदानामनेकानां समूहो वाक्यम्।

—अभिधावृत्तिमात्रिका।

(ङ) We can, then, define the 'sentence' as the form in which the verbal image is expressed and understood through the medium of sounds. —J. Vendryes's Language: A Linguistic Introduction to History, p. 68.

तथा आसत्ति वा संनिधि से युक्त होता है। इसीलिये वाक्य की पूर्ण परिभाषा करते हुए कहा जाता है कि योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति वा सन्निधि से युक्त पद-समूह को वाक्य कहते हैं[१]।

पदों वा शब्दों के अर्थों में परस्पर संबंध स्थापित होने में किसी प्रकार की बाधा वा व्यवधान का अभाव योग्यता कहलाती है[२]। जैसे, 'जल से सींचो' वाक्य में पद के अर्थों में पारस्परिक योग्यता है; क्योंकि सेचन कार्यक्षम कोई द्रव पदार्थ ही होता है और जल में यह द्रवत्व गुण है। परंतु, 'अग्नि से सींचो' वाक्यगत पदार्थों में योग्यता नहीं है; क्योंकि सेचन कार्य का साधन द्रवत्व गुण अग्नि में नहीं है। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि वाक्यगत पदों में योग्यता की स्थिति आवश्यक है; बिना इसके इष्ट अर्थ की व्यंजना असंभव है।

आकांक्षा के मूल में इच्छा वा जिज्ञासा का भाव निहित है। वाक्य में अभीप्सित अर्थ की व्यंजना के लिये एक पदार्थ दूसरे सम्यक् वा उपयुक्त पदार्थ की आकांक्षा वा इच्छा रखता है; बिना ऐसे पदार्थों के संयोग के सम्यक् अर्थ की प्रतीति नहीं होती। तो, प्रधानतः आकांक्षा का स्वरूप अर्थ-प्रतीति की पूर्णता का अभाव ही है, जिस अभाव की निवृत्ति एक पदार्थ के उपयुक्त दूसरे पदार्थ के आ जाने से हो जाती है। इस प्रकार आकांक्षा की परिभाषा एक

---

१. (क) वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।

—साहित्यदर्पण।

(ख) वाक्यं त्वाकांक्षायोग्यतासंनिधिमतां पदानां समूहः।

—तर्कभाषा।

२. (क) योग्यता पदार्थानां परस्पर संबंधेबाधाभावः।

—साहित्यदर्पण।

(ख) योग्यता परस्परान्वय प्रयोजक धर्मवत्त्वम्।

—परमलघुमंजूषा।

पदार्थ के न रहने से दूसरे पदार्थ के बोध का अभाव ठहरती है[१]। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। हमें 'पुस्तक लाओ' कहना है। यदि हम केवल 'पुस्तक' कहें वा लिखें तो श्रोता वा पाठक के मन में पुस्तक के विषय में कुछ जानने की इच्छा वा जिज्ञासा उत्पन्न होगी, और यह इच्छा वा जिज्ञासा 'लाओ' शब्द के कहने वा लिखने से शांत हो जायगी। तो, अभीप्सित अर्थ-व्यंजना के हेतु 'पुस्तक' पद का अर्थ 'लाओ' पद के अर्थ की आकांक्षा रखता है। यदि हम इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये 'पुस्तक' के आगे 'लोटा', 'ढोल' पदों के अर्थों को प्रयुक्त करेंगे तो 'पुस्तक, लोटा, ढोल' पद-समूह होने पर भी इष्ट अर्थ न देगा। इसलिये वाक्य में साकांक्ष पदों का ही प्रयोग होता है।

साधारणतः बिना विलंब के पदों वा पदार्थों की उपस्थिति को आसत्ति वा संनिधि कहते हैं[२]। हमें अपने विचारों वा भावों को वाक्यों द्वारा किसी पर प्रकट करना होता है। यदि हम वाक्यगत पदों को ठहर-ठहरकर बोलेंगे तो श्रोता की बुद्धि एक-एक पद के अर्थ को विलंब से ग्रहण करने के कारण विचारों वा भावों के

---

१. (क) आकांक्षा प्रतीति पर्यवसान विरहः। —साहित्यदर्पण।
(ख) पदस्य पदांतर व्यतिरेक प्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा। —तर्कसंग्रहः।
(ग) पदार्थानां परस्पर जिज्ञासाविषयत्वयोगत्वमाकांक्षा। —वेदांतपरिभाषा।

२. (क) आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः। —साहित्यदर्पण।
(ख) आसत्तिः अव्यवधानेन पदजन्य पदार्थोपस्थितिः। —वेदांतपरिभाषा।
(ग) प्रकृतान्वयबोधानुकूल पदाव्यवधानमासत्तिः। —परमलघुमंजूषा।
(घ) अविलंबेन पदार्थोपस्थितिः संनिधिः। —तर्कदीपिका।
(ङ) पदानामविलंबेनोच्चारणं संनिधि। —तर्कसंग्रहः।

अनन्वितिवश उन्हें समझ न सकेगा, वह तो केवल पद के अर्थ को ही जान सकेगी, पद-समूह के अर्थ को नहीं। हमें 'पानी लाओ' व्यक्त करना है। यदि 'पानी' पद हम अभी कहें और 'लाओ' कुछ घंटों पश्चात् तो हमारा अभीप्सित अर्थ संभवतः केवल हम ही समझ सकेंगे, कोई दूसरा व्यक्ति न समझ सकेगा। इसलिये वाक्यगत पद-समूह में आसत्ति वा संनिधि का होना आवश्यक है।

इस प्रकार हमें ज्ञात हुआ कि वाक्यगत पद-समूह को योग्यता, आकांक्षा तथा आसत्ति वा संनिधियुक्त होना चाहिए। वाक्य में प्रयुक्त पदों में इन तीन तत्त्वों के अतिरिक्त एक और तत्त्व का होना भी आवश्यक है, और उस तत्त्व का नाम है समभिव्याहार। बिना किसी व्यवधान के सरलतापूर्वक अभीप्सित वाक्यार्थबोध के लिये वाक्यगत पदों की क्रमयुक्त स्थिति को समभिव्याहार कहते हैं। इसे वाक्य का एक अनिवार्य तत्त्व समझना चाहिए। बिना इसके अर्थ का अनर्थ होना सहज है। पद-स्थिति में व्यत्यय वा विपर्यय द्वारा सर्वथा विपरीत अर्थ-बोध होना कोई असंभव बात नहीं है। जैसे, कोई कहना चाहता है कि 'साहु ने चोर को पकड़ा'। यदि वह इस वाक्य के पदों में कुछ व्यत्यय करके 'साहु' के स्थान पर 'चोर' और 'चोर' के स्थान पर 'साहु' कहे तो अर्थ सर्वथा विपरीत होकर 'चोर ने साहु को पकड़ा' हो जायगा।

इतने विवेचन के पश्चात् वाक्य की परिभाषा पूर्ण होती है, और अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वाक्य द्वारा प्रधानतः प्रवृत्ति तथा निवृत्तिमय विचार वा भाव व्यक्त होते हैं, इनको व्यक्त करने के लिये अभीप्सित अर्थ-व्यंजक पद-समूह की सहायता ली जाती है, और यह पद-समूह योग्यता, आकांक्षा, आसत्ति वा संनिधि तथा समभिव्याहार से युक्त होता है।

———

[२]

कारक

§ (६) हमने ऊपर भाषा के चरमावयव वाक्य पर विचार किया है; और वाक्य का विवेचन करते हुए उसके अन्य तत्त्वों के साथ आकांक्षा के विषय में विचार किया है। इसी आकांक्षा की भित्ति पर कारकों का अस्तित्व खड़ा है। हमें यह विदित है कि आकांक्षा के मूल में पदों वा पदों के अर्थ की पारस्परिक जिज्ञासा ही स्थित है। एक पद वा पदार्थ के पढ़ने वा सुनने पर उससे संबंध रखने योग्य दूसरे पद वा पदार्थ को पढ़ने वा सुनने की आकांक्षा तुरत जाग उठती है। क्रिया के सुनने पर कारक, कारक के सुनने पर क्रिया, करण के सुनने पर उसके द्वारा संपादनीय कार्य की जिज्ञासा वा आकांक्षा की उत्पत्ति स्वाभाविक है[१]। इसी प्रकार अधिकरण वा आधार के सुनने पर आधेय, आधेय के सुनने पर अधिकरण वा आधार की आकांक्षा होती है। तात्पर्य यह कि सभी कारकों का संपूर्ण व्यापार इसी आकांक्षा की परिमिति के अंतर्गत ही चलता है। कारक की क्रीड़ा का क्षेत्र आकांक्षा ही है।

§ (७) कारक की परिमिति, उसका कार्यक्षेत्र निर्धारित कर लेने पर कारक का स्वरूप क्या है, किस सिद्धांत पर उसका ग्रहण हुआ है, इसका देखना भी आवश्यक है। स्वयं 'कारक' शब्द कर्तृत्व शक्ति का द्योतक है। कारक की अभिधा है, 'कारनेवाला'; और 'करनेवाला' (=कारक) कोई कार्य (क्रिया-=action) ही करता है। इस प्रकार कारक की अति सामान्य परिभाषा है किसी कार्य का

---

१. पदार्थानां परस्पर जिज्ञासा विषयत्वयोगत्वमाकांक्षा। क्रिया श्रवणे कारकस्य तस्य श्रवणे क्रियायाः करण श्रवणे इति कर्तव्यतायाश्च जिज्ञासाविषयत्वात्

—वेदांतपरिभाषा।

करनेवाला, अर्थात् कारक का संबंध कार्य (=क्रिया) से होता है। देखना यह चाहिए कि कारक किस रूप में कार्य करता है, उसका तथा कार्य का संबंध किस रूप में होता है।

हमारे जीवन की सभी क्रियाएँ—सभी व्यापार—फल को दृष्टि में रखकर—फल के उद्देश्य से—ही होते हैं, निरुद्देश्य हमारा कोई कार्य नहीं होता। वाक्यगत क्रिया (=व्यापार) भी किसी फल या उद्देश्य की सिद्धि के लिये ही होती है, इस उद्देश्य-सिद्धि में कारक सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ—'मैं लेखनी से लिखता हूँ' वाक्य लीजिए। 'लिखता हूँ' क्रिया के फल का उद्देश्य लेखन-व्यापार (=क्रिया) है, और इस व्यापार की उद्देश्य-सिद्धि करण कारक के बोधक परसर्ग से युक्त नाम 'लेखनी' से होती है; 'लिखता हूँ' क्रिया की सि द्धि में सहायक नाम 'लेखनी' है। तो, हमें यह ज्ञात हुआ कि वाक्य में कारक फल के उद्देश्य से किए गए व्यापार (=क्रिया) की सिद्धि के सहायक के रूप में आता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि कारक का अन्वय वा संबंध किसी न किसी रूप में क्रिया से होता है। कारक की इन प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर यदि उसकी सम्यक् परिभाषा प्रस्तुत की जाय तो वह इस प्रकार की होगी—वाक्य में प्रयुक्त उस नाम (=संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण) को कारक कहते हैं जिसका अन्वय या संबंध साक्षात्कार वा परंपरा से आख्यात क्रिया वा कृदंत क्रिया के साथ होता हो[१]।

§ (८) हिंदी में कारकों की संख्या आठ है और उनके नाम ये हैं—कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादन, संबंध, अधिकरण और संबोधन। संस्कृत में छह ही कारक माने जाते हैं। वहाँ न संबंध को

१. इस लक्षण के अनुसार संबंध कारक नहीं माना जाता, क्योंकि संबंध का अन्वय केवल नाम से ही होता है, क्रिया से नहीं।

कारक मानते हैं और न संबोधन को। कारकों के ऐतिहासिक विकास पर विचार करते हुए हम इनपर विचार करेंगे।

यहाँ हम यह देखना चाहते हैं कि आठ वा छह कारकों की कल्पना किस आधार पर हुई है।

हम साहित्यिकों के संमुख समाज और साहित्य के संबंध की चर्चा प्रत्यक्ष रूपेण नित्यप्रति आया करती है, समाज और भाषा के संबंध की बात अत्यंत घनिष्ठ होते हुए भी बहुत कम आती है। साहित्य से भी भाषा का संबंध अत्यंत घनिष्ठ है, बिना इसके (भाषा के) उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रह सकता—उसमें शब्द (= भाषा) तथा अर्थ का एक साथ होना आवश्यक है। समाज और भाषा में इतनी आत्मीयता है कि ये एक दूसरे को छोड़ नहीं सकते। न बिना भाषा के समाज रह सकता है और न बिना समाज के भाषा रह सकती है। इन दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध है।

हम समाज में रहते हैं और परस्पर अपने मनोगत विचारों तथा भावों का आदान-प्रदान भाषा द्वारा नित्यप्रति किया करते हैं।[१] कहने का तात्पर्य यह कि भाषा (वाक्य जिसका चरमावयव है) का प्रयोग समाजगत है—स्थानगत है—देशगत है। हम किसी देश अथवा स्थान में वा पर स्थित होकर ही भाषा का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार हमें यह ज्ञात हुआ कि देश (समाजगत देश वा स्थान) तथा भाषा में संबंध है।

इसके साथ ही हमें एक बात पर और विचार करना है, और वह बात है काल संबंधी। समाज में काल वा समय देश के साथ लगा रहता है। देश तथा काल को हम विलग नहीं कर सकते। यदि किसी

१. समाज का अर्थ ४०-५० जनों की मंडली से ही न होना चाहिए. जहाँ एक से दो जन हुए कि समाज की सृष्टि हो जाती है।

देश में हम रहेंगे तो काल भी हमारे साथ ही लगा रहेगा। काशी नगर में स्थित यात्री का देश तथा काल और उसी यात्री के सारनाथ में स्थित देश तथा काल में भिन्नता होगी। वह एक ही काल में दोनों स्थानों पर विद्यमान नहीं रह सकता है। तात्पर्य यह कि देश तथा काल साथ-साथ चलते हैं। किसी विशिष्ट देश का संबंध किसी विशिष्ट काल से होगा और किसी विशिष्ट काल का संबंध किसी विशिष्ट देश से। इन दोनों को यदि अलग-अलग करके रखना चाहें तो यह असंभव है।

अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमसे समाजगत देश तथा काल का संबंध है। इसी देश तथा काल में विद्यमान रहकर हम भाषा का प्रयोग करते हैं, वाक्य जिसका चरमावयव है, और इसी वाक्य की सीमा में कारक की स्थिति है। इस प्रकार कारक का भी संबंध देश-काल से स्थापित होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इसी देश-काल के आधार पर ही आठ वा छह कारकों की कल्पना हुई है। कुछ पश्चिमी वैयाकरण केवल देश के आधार पर कारकों की उत्पत्ति मानते हैं।[१]

आगे हम हिंदी के एक-एक कारक को लेकर उसका संबंध देश-काल से दिखाएँगे।

कर्त्ता—कर्त्ता कारक का मूल तत्त्व है साधक द्वारा साध्योपलब्धि। इसके द्वारा किसी कार्य का होना व्यक्त होता है। और कर्त्ता अपनी क्रिया (कार्य) किसी देश-काल में स्थित रहकर ही करेगा। देश-काल से

---

१. Some scholars have maintained a 'localistic' case-theory and have seen in the accusative primarily a case denoting movement to or towards, from which the other uses have gradaully developed.

—Otto Jespersen's The Philosophy of Grammar, p. 179.

कोई व्यक्ति वा वस्तु अलग नहीं हो सकती। इस प्रकार कर्ता कारक का संबंध देश-काल से स्थापित होता है।

कर्म—कर्ता तथा कर्म कारक में घनिष्ठ संबंध है, क्योंकि कर्म की सिद्धि कर्ता द्वारा ही होती है, कर्ता अपनी क्रिया द्वारा कर्म से अपना संबंध स्थापित करता है। कर्ता द्वारा कर्म से यह संबंध-स्थापन किसी देश-काल में होगा। कर्म की स्थिति देश-काल से भिन्न नहीं की जा सकती।

करण—करण कारक कर्ता और कर्म के साथ-साथ चलता है। कर्ता तथा कर्म का संबंध हमने ऊपर देखा है; कर्ता कर्म का साधक होता है और करण कर्म-साधन का प्रमुख साधक होता है। करण रहता तो है कर्ता के अधिकार में, पर कार्य वा क्रिया-सिद्धि करण द्वारा ही होती है। कार्य करता है करण, पर वाहवाही कर्ता को मिलती है, करण कर्ता के प्रभाव के कारण दब जाता है, यद्यपि कार्य उसी को करना पड़ता है, कर्ता तो संकेत मात्र देता है।[1] जिस प्रकार कर्ता तथा कर्म कारक को देश-काल से अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार करण को भी, क्योंकि करण तो कर्त्ता तथा कर्म से सटा ही रहता है।

संप्रदान—कर्म की भाँति संप्रदान में भी कर्ता द्वारा किसी वस्तु वा व्यक्ति से येनकेनप्रकारेण सबंध-स्थापन का ही भाव विद्यमान है। किन्हीं अर्थों में कर्म तथा संप्रदान में घनिष्ठ संबंध है। जिस नाम से (वस्तु वा व्यक्ति से) संबंध-स्थापन होगा उसकी स्थिति,

---

१. ऐसा सर्वत्र नहीं होता। केवल अपरिस्पंदन साधन-साध्य भाव के स्थल में ही यह व्यवस्था मिलती है। सपरिस्पंदन साधन-साध्य क्रिया के स्थल में तो कर्ता को व्यापार करना पड़ता है। बढ़ई जब आरी चलाता है तभी लकड़ी उससे (आरी से) कटती है।

कर्म की भाँति ही, किसी देश-काल में होनी आवश्यक है। इस प्रकार संप्रदान कारक का संबंध भी देश-काल से स्थापित होता है।

अपादान—जीव में अवाप्य वृत्तिता है। उसमें एक देशवर्तित्व की ही क्षमता है, ईश्वर की भाँति वह व्यासज्यवृत्तिवाला नहीं है। ईश्वर का संबंध सभी वस्तु वा व्यक्ति से सभी देश-काल में होता है। पर जीव में यह शक्ति नहीं है। उसका वियोग प्रत्यक्ष रूप में उसके दृष्टि पथ में आनेवाले व्यक्तियों वा वस्तुओं के अतिरिक्त सभी व्यक्तियों वा वस्तुओं से होता है। कहने का तात्पर्य यह कि उसका संबंध सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक नहीं है। जब वह एक देश तथा काल से संबंध रखता है तब अन्य देश तथा काल से उसका संबंध छूट जाता है। हाँ, मन से वह सुविधानुसार देखी-सुनी वस्तुओं वा व्यक्तियों से सभी देश-काल में संबंध रख सकता है। निर्जीव वस्तुओं के संबंध में भी यही बात घटती है। इसी वियोग के आधार पर अपादान कारक की सृष्टि हुई है। इसके मूल में वियोग वा विभाग का ही भाव निहित है। संयोग से ही वियोग की स्थिति है। जब कोई व्यक्ति वा वस्तु किसी व्यक्ति वा वस्तु से संबद्ध रहती है तब के और जब वह उससे वियुक्त हो जाती है तब के देश-काल में भिन्नता होती है। संयोग-वियोग के साथ भी देश-काल लगा है। इस प्रकार अपादान कारक भी देश-काल के आधार पर खड़ा है।

संबंध—वियोग को दृष्टि में रखकर अपादान का निर्माण हुआ और संयोग को दृष्टि में रखकर संबंध का। समाज में रहकर हमारा संबंध किसी वस्तु वा व्यक्ति से होगा ही, हम अकेले—एकांत में—नहीं रह सकते। इसी अनेकांत-प्रियता के कारण अहंकार तथा ममकार (बौद्ध-दर्शन में 'अहंकार' और 'मम्कार') की उत्पत्ति होती है, जिसके द्वारा हम अपनी प्रधानता स्थापित करते हुए सबसे अपना संबंध रखते वा रखना चाहते हैं। दार्शनिक इसी को माया का

रूप कहेंगे[1]। कुछ अंशों में 'अहंकार' के आधार पर कर्ता कारक की स्थिति मानी जा सकती है। ममकार के आधार पर संबंध कारक तो खड़ा है ही। संबंध कारक का प्रधान रूप है किसी वस्तु वा व्यक्ति से संयोग, जो ममकार की प्रेरणा का फल है। हाँ, ऐसी स्थिति में, व्याकरण के क्षेत्र में, ममकार को दार्शनिकों की भाँति अनभल अर्थ में न लेना चाहिए। यहाँ भी हमें यह न भूल जाना चाहिए कि किसी वस्तु वा व्यक्ति का किसी वस्तु वा व्यक्ति से पारस्परिक संबंध किसी देश-काल में ही होगा। संबंध कारक भी देश-काल की सीमा में आता है।

अधिकरण—अधिकरण कारक का संबंध देश-काल से स्पष्ट है। अधिकरण की सामान्य अभिधा है आधार, और आधार जब होगा तब किसी देश का ही[2]। अधिकरण में नाम किसी क्रिया का आधार वा आश्रय होता है, ऐसी स्थिति में वह क्रिया किसी न किसी काल में ही घटित होगी, किसी देश वा स्थान में तो घटित होगी ही, जैसा कि ऊपर के कथन से स्पष्ट है। इस प्रकार अधिकरण का संबंध भी देश-काल से है।

संबोधन—संबोधन कारक में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति वा वस्तु को (इसे विशेषतः भावावेश में) संबोधित करता है। यह क्रिया आदेश देने, सचेत करने, समझाने आदि अनेक अवसरों पर

---

१. गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥

—रामचरितमानस।

२. जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।

—भाषापरिच्छेद।

हो सकती है। संबोधन कारक में भी क्रिया किसी देश-काल में ही होगी।

इस प्रकार हमें विदित होता है कि सभी कारकों की कल्पना का आधार देश-काल ठहरता है। सभी कारकों का संबंध देश-काल से जुड़ता हुआ देखकर अनवीकृतत्व (monotony) का अनुभव हो सकता है, पर तर्क की दृष्टि से यह निराधार नहीं है। वस्तुतः बात यह है कि सारा संसार देश-काल में ही परिमित है, इसलिये इसके सब व्यपार भी इसी से सीमित होंगे। यह इस अंक के आरंभ के विवेचन से स्पष्ट है।

ऊपर हमने सभी कारकों के मूल में स्थित बीज-भाव का भी संकेत किया है, जो देश-काल के अंतर्गत ही कार्य-रूप में प्रकट होता है।

§ (६) कारकों के विषय में इतने विवेचन के पश्चात् विनियोग की दृष्टि से हिंदी-कारकों के ऐतिहासिक विकास का भी सिंहावलोकन कर लेना अतिप्रसंग न होगा।

अंक § (८) में हमने कहा है कि संस्कृत में छह ही कारक होते हैं। संस्कृतवाले संबंध तथा संबोधन को कारक नहीं मानते[१]। पालि वा प्राकृत में संबंध कारक का, जिसकी स्थिति संस्कृत वैयाकरण कारक-श्रेणी में नहीं मानते, बड़ा प्राधान्य हो गया। इसका कारण प्राकृत-काल की संक्षेपप्रियता और वैदिक भाषा की परंपरा है। 'एकशतं षष्ठ्यर्थाः' लिखकर 'महाभाष्य' कार ने संबंध की व्यापकता का निर्देश किया है और संस्कृत में भी कर्म, करण, संप्रदान आदि

---

१. अपादानसंप्रदान करणाधार कर्मणाम्।
कर्तुश्च भेदतः षोढ़ा कारकं परिकीर्तितम्।

—शब्दशक्तिप्रकाशिका

के प्रसंग में सामान्य संबंध की बोधिका षष्ठी से काम लिया जाता है। षष्ठी का नियमतः किसी कारक के लिये प्रयोग नहीं होता। षष्ठी प्रायः चतुर्थी के स्थान में प्रयुक्त होने लगी और चतुर्थी का लोप सा ही हो गया। वैदिक भाषा में भी षष्ठी का प्रयोग चतुर्थी के स्थान में और चतुर्थी का प्रयोग षष्ठी के स्थान में होता है। इसके अतिरिक्त संबंध कारक की विभक्ति षष्ठी का प्रयोग अन्य कारकों की विभक्तियों का अर्थ-बोध कराने के लिये भी होने लगा। षष्ठी का यह प्राधान्य वा महत्त्व पालि तथा प्राकृत से होता हुआ अपभ्रंश में भी आया। हेमचंद्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अपभ्रंश में संबंध-कारक के प्रत्यय से ही संप्रदान तथा संबंध दोनों के प्रत्ययों का अर्थ-बोध होता है[1]। अपभ्रंश में षष्ठी का प्रयोग कर्म, करण, संप्रदान, अधिकरण की विभक्तियों के लिये भी होता है[2]; उदाहरण यथास्थान दिया जायगा।

---

१. चतुर्थ्याः षष्ठी ॥—सिद्धहेमचंद्र, अध्याय ८, पाद ३, सूत्र १३१। चतुर्थ्याः स्थाने षष्ठी भवति ॥ मुणिस्स। मुणीण देइ ॥ नमो देवस्स। देवाण ॥

तादर्थ्यङेर्वा ॥- वही, सूत्र १३२।

तादर्थ्यविहितस्य ङेश्चतुर्थ्येकवचनस्य स्थाने षष्ठी वा भवति ॥ देवस्स देवाय। देवार्थमित्यर्थः ॥ ङेरिति किम्। देवाण ॥

वधाड्डाइश्च वा ॥-वही, सूत्र १३३।

वधशब्दात्परस्य तादर्थ्यङेर्डिद् आइः षष्ठी च वा भवति ॥ वहाइ वहस्स वहाय। वधार्थमित्यर्थः ॥

२. क्वचिद् द्वितीयादेः ॥—वही, सूत्र १३४।

द्वितीयादीनां विभक्तीनां स्थाने षष्ठी भवति क्वचित् ॥ सीमाधरस्स वंदे। तिस्सा मुहस्स भरिमो। अत्र **द्वितीयायाः षष्ठी** ॥ धणस्स लद्धो। धनेन लब्ध इत्यर्थः। चिरस्स मुक्का। चिरेण मुक्तेत्यर्थः। तेसिमेअमणाइण्णं। तैरेतदनाचरितम्। अत्र **तृतीयायाः** ॥ चोरस्स बीहइ। चोराद्बिभेतीत्यर्थः। इअराइं जाण लहुअ-क्खराइं पायंतिमिल्लसहिआण। पादांतेन सहितेभ्य इतराणीति। अत्र **पंचम्याः** ॥ पिट्ठीए केस भारो। अत्र **सप्तम्याः** ॥

उपर्युक्त विवेचन का तत्त्व यही है कि संस्कृत-काल की कारक-विभक्तियों में से पालि वा प्राकृत तथा अपभ्रंश-काल में क्रम से संप्रदान और अपादान कारक की बोधिका विभक्तियों का प्रायः लोप सा हो गया और इनके स्थान में संबंध कारक की विभक्ति का प्रयोग होने लगा। षष्ठी का प्रयोग अन्य कारकों की विभक्तियों के लिये भी होने लगा था। इस प्रकार इन दो भाषाओं में षष्ठी की बड़ी प्रधानता हो गई।

§ (१०) हिंदी में संबोधन को भी कारक मानते हैं। कोई-कोई वैयाकरण संबोधन कारक को कारक नहीं मानते। इस कारक की ग्राह्यता तथा अग्राह्यता के विषय में हम इसके प्रयोग पर विचार करते हुए लिखेंगे। संबोधन कारक की बात को यहीं छोड़कर यदि हम संस्कृत तथा हिंदी के कारकों पर एक साथ दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि संस्कृत के कारक ज्यों के त्यों हिंदी में आए हैं, हिंदी को संस्कृत की पूरी विरासत मिली है। पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में षष्ठी का जो प्राधान्य है वह हिंदी में नहीं आया, हिंदी में संबंध कारक का क्षेत्र उतना ही है, जितना संस्कृत में।

अब हम हिंदी के एक एक कारक के विकास पर विचार करेंगे। ऐसा करते हुए हमारी दृष्टि केवल विकसित तथा विशिष्ट स्थलों पर ही होगी। यथावसर कारक-परसर्ग-व्यत्यय (एक कारक-परसर्ग के स्थान पर अन्य कारक-परसर्गों का प्रयोग) तथा अर्थ-भेद (एक ही बात के दो वा दो से अधिक कारक-परसर्गों की सहायता से बोधन के कारण अर्थ में कुछ भिन्नत्व) भी हमारे विवेचन का विषय होगा।

———

[३]

कर्ता कारक

§ (११) संस्कृत का कर्ता ही हिंदी का कर्ता कारक है। इसका स्वरूप तथा प्रयोग जैसा संस्कृत में है वैसा ही हिंदी में भी; हिंदी में इसमें कोई वैशिष्ट्य नहीं आया। सामान्यतः कर्ता कारक का प्रयोग किसी कार्य के साधक के रूप में होता है।

महामुनि पाणिनि के मत्यनुसार प्रथमा केवल प्रातिपदिकार्थ, लिंग, परिमाण तथा वचन को व्यक्त करता है[१]।

हिंदी में कर्ता कारक सपरसर्ग तथा अपरसर्ग दोनों होता है। इसका बोधक परसर्ग 'ने' है, जो पश्चिमी हिंदी में ही मिलता है, पूरबी हिंदी में नहीं। इस 'ने' की आवश्यकता हिंदी में संस्कृत से गृहीत कर्मवाच्य के कारण हुई है।

थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ परसर्ग 'ने' हिंदी की कुछ बोलियों तथा अन्य भारतीय आर्य भाषाओं में भी प्रयुक्त होता है। यह इनमें कर्ता कारक के परसर्ग के रूप में भी प्रयुक्त मिलता है तथा अन्य कारकों के परसर्ग के रूप में भी। व्रजभाषा और बुंदेली में 'ने' तथा 'नैं' और कन्नौजी में 'ने' के रूप में यह कर्ता कारक के बोधक परसर्ग का कार्य करता है। पंजाबी तथा मेवाड़ी में 'नै' और मराठी में 'नें' के रूप में यह कर्ता कारक का बोधक परसर्ग है। पंजाबी में 'नूँ', राजस्थानी तथा मेवाड़ी में 'नै', मारवाड़ी में 'न' और 'नाँ', गुजराती में 'ने' के रूप में यह कर्म तथा संप्रदान कारकों का परसर्ग है। स्मरण यह रखना है कि मारवाड़ी के संप्रदान-परसर्ग में 'न' नहीं 'नै' प्रयुक्त होता है। यह 'नां', 'नी' और 'नुँ' के रूप में गुजराती में संबंध-परसर्ग का बोध कराता है।

---

१. प्रातिपदिकार्थलिंगपरिमाणवचन मात्रे प्रथमा।

—अष्टाध्यायी, २।३।४६

§ (१२) हिंदी में कुछ प्रयोग ऐसे प्राप्त हैं जिनमें परसर्ग तो अन्य कारकों के लगते हैं, पर वे अर्थ व्यक्त करते हैं कर्ता कारक के परसर्ग का ही। नीचे कुछ ऐसे प्रयोगों पर विचार किया जाता है।

(य) 'मुझको जाना चाहिए' वाक्य में परसर्ग तो संप्रदान का लगा है, पर यह अर्थ कर्ता का ही देता है। 'जाना' क्रिया का कर्ता 'मुझको' रूप में 'मैं' ही है। इस प्रयोग में हिंदी की उपज्ञात विशेषता देखी जा सकती है।

(र) उपर्युक्त प्रयोग की प्रवृत्ति की भाँति ही निम्नलिखित वाक्यों में प्रयोग तो करण कारक के बोधक परसर्ग अथवा करण कारक के बोधक परसर्ग के अर्थ में अधिकरण कारक के बोधक परसर्ग का हुआ है, पर व्यंजना कर्ता कारक के परसर्ग की ही होती है—

'आजकल के नेता **दूसरों से** पुस्तकें लिखवाकर लेखक भी बन जाते हैं।'

यहाँ प्रयोज्य कर्ता में करण-बोधक परसर्ग का प्रयोग हुआ है। नीचे के उदाहरणों में परसर्ग तो अधिकरण का लगा है, पर वह कर्ता का ही अर्थ-बोध कराता है—

'क्या बताऊँ पत्र भेजने से पहले ही उत्तर के लिये तो चित्त व्याकुल होने लगा फिर इतनी बाट **किस पर** देखी जायगी मैं तो चाहती हूँ कि मैं आप ही जोगन बनकर प्यारे को ढूँढ़ने जाऊँ (तप्तासंवरण); कै बिरहिनि कूँ मींच दे, कै आपा दिखलाइ। आठ पहर का दाझणां **मोपैं** सह्या न जाइ (कबीरग्रंथावली); शेष शारदा न पावैं **मोपै** किमि कहि जैहै ? (सूर); हौं अब लौं करतूति तिहारिय चितवत हुते न रावरे चेते। अब तुलसी पूतरो बाँधिहै सहि न जात **मोपै** परिहास एते (तुलसी)।'

कारक-परसर्ग-व्यत्यय

§ (१३) श्री बालमुकुंद गुप्त की कृतियों में हमें दो उदाहरण ऐसे मिले हैं जिन्हें कर्म कारक के परसर्ग के साथ होना चाहिए, पर वे अपरसर्ग कर्ता कारक में प्रयुक्त हैं। ऐसा जान पड़ता है कि लेखक ने कर्ता को कर्म समझकर ही ऐसा किया है। उदाहरण—**वह** भी ब्राह्मसमाजियों ही ने निकाला था (गुप्त निबंधावली); पर आपके मुँह से जो कुछ सुना **वह** सुनकर वह लोग जैसे हक्का-बक्का हुए ऐसे कभी न हुए थे (शिवशंभु का चिट्ठा)।

कविवर बिहारी तथा कविवर केशव में भी दो एक स्थल ऐसे प्राप्त हुए हैं जहाँ कर्म-परसर्ग के स्थान पर स्पष्टरूपेण अपरसर्ग कर्ता कारक का ही प्रयोग हुआ है। जैसे, लोभ-लगे हरि-रूप के, करी साँटि जुरि, जाइ। **हौं** इन बेची बीच हीं, लोइन बड़ी बलाइ (बिहारी-रत्नाकर); तात, **हौं** विधवा करी तुम काज कीन्ह दुरंत (रामचंद्रिका)।

---

[४]

कर्म कारक

§ (१४) कर्त्ता अपनी क्रिया के द्वारा जिससे संबंध स्थापित करने की इच्छा करता है उसका सूचक नाम (संज्ञा) कर्म कारक कहलाता है।

संस्कृत में सभी कारकों की भाँति कर्म भी सविभक्तिक होता है। अपभ्रंश में कर्म के एकवचन तथा बहुवचन दोनों में विभक्ति लगाते भी हैं और नहीं भी लगाते। यथा, 'ढोल्ला मइं तुहुं वारिया (यो) मा कुरु दीहा **माणु**'; 'माणु' में कर्म की विभक्ति 'उ' है, पर 'एत्थु **मुणीसम**' जाणीअइ जो नवि वालइ **वग्ग**' में 'मुणीसम' तथा 'वग्ग' में कर्म की विभक्ति 'उ' नहीं है। हिंदी में भी कहीं कर्म के परसर्ग का प्रयोग करते हैं और कहीं नहीं। अपभ्रंश के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि हिंदी में यह प्रवृत्ति परंपराप्राप्त है। तो, हिंदी में कर्म कारक सपरसर्ग तथा अपरसर्ग दोनों होता है। इसका बोधक परसर्ग 'को' है।

§ (१५) जब कर्ता किसी वस्तु वा उद्देश्य की प्राप्ति वा पूर्ति के लिये शरीर वा मन से सक्रिय होता है तब वह वस्तु वा उद्देश्य, जिसतक वह पहुँचना चाहता है, कर्म कारक की विभक्ति की आकांक्षा रखता है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि दृश्य वा अदृश्य गतिबोधक क्रिया के साथ कर्म-परसर्ग का प्रयोग होता है। कर्म कारक के परसर्ग के प्रयोग की यह प्रवृत्ति संस्कृत से हिंदी में आई है, दोनों भाषाओं में ऐसे स्थलों पर कर्म-परसर्ग का प्रयोग होता है।

यद्यपि गतिवाचक क्रिया के साथ आवश्यकतावश सपरसर्ग कर्म का प्रयोग होता है तथापि जहाँ यह वैकल्पिक होता है वहाँ अपरसर्ग ही कर्णमधुर लगता है।

दृश्यगतिबोधक क्रिया के साथ कर्म-परसर्ग-प्रयोग के उदाहरण देने की आवश्यकता हम नहीं समझते। अदृश्यगतिबोधक क्रिया के साथ कर्म-परसर्ग के प्रयोग का उदाहरण—संस्कृत—पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम (कुमारसंभव); तच्चिंतया दैन्यमगच्छत् (दशकुमार-चरित)। हिंदी का उदाहरण—तुम्हारी बुद्धि चरने गई है क्या ?, भैया, जो आत्मा रही वह तो **कहीं उड़ गई,** अब निर्जीव मिट्टी ही पड़ी है; बाबू की अक्ल तो चरने गई है (विदा)।

§ (१६) संस्कृत की कुछ क्रियाएँ, यथा—'प्रच्छ्', 'ब्रू', 'दुह्' आदि[1], बहुधा दो कर्मों के साथ आती हैं। इन दो कर्मों में से एक 'प्रधान' कर्म होता है और दूसरा 'अकथित', जिसे हम 'अप्रधान' कह सकते हैं। ये दोनों कर्म यद्यपि कर्म कारक की विभक्ति में रखे जाते हैं तथापि अकथित कर्म बहुधा यथाप्रयोग अर्थ अपादान, संबंध, अधिकरण आदि की विभक्तियों का देता है। जैसे—धेनुं दोग्धि पयः 'वह **गाय से** दूध दुहता है।' यहाँ 'धेनु', जो अकथित कर्म है, कर्म कारक की विभक्ति में तो है, पर अर्थ देता है अपादान कारक की विभक्ति का।

प्रयोग की यह परंपरा संस्कृत से हिंदी में भी आई, पर उपर्युक्त उदाहरण तथा ऐसे ही अन्य उदाहरणों में दोनों कर्मों को वाक्य में रखने की प्रवृत्ति हिंदी में बहुत कम है। कभी प्रधान कर्म वाक्य में नहीं रहता, उसका अध्याहार कर लिया जाता है और कभी

---

१. संस्कृत की निम्नलिखित धातुओं के साथ बहुधा दो कर्म कारक रखेजाते हैं—

दुह्याच्पच् दंड् रुधि प्रच्छि चिब्रू शासु जिमंथ् मुषाम्। कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्।

अकथित कर्म नहीं रखा जाता, उसका आक्षेप कर लिया जाता है। जैसे, 'मैं गाय दुहता हूँ', इसका अर्थ हुआ 'गाय से दूध (को) दुहता हूँ' यहाँ प्रधान कर्म 'दूध' आक्षिप्त है। दूसरा उदाहरण—'पानी काढ़ो' अर्थात् 'कुएँ से पानी काढ़ो', यहाँ अकथित कर्म 'कुएँ से' का आक्षेप किया गया है।

ऊपर के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि संस्कृत की 'प्रच्छ्', 'ब्रू', 'दुह्' आदि क्रियाएँ, जो दो कर्मों के साथ आती हैं, वे (हिंदी के रूप में 'पूछना', 'कहना', 'दुहना') हिंदी में बहुधा एक ही कर्म की आकांक्षा रखती हैं, यद्यपि दो कर्म भी उनके साथ आते हैं।

यहाँ एक बात पर ध्यान देना अत्यावश्यक है। यद्यपि हिंदी के पुराने लेखकों में संस्कृत की परंपरा के अनुसार इन क्रियाओं के साथ कर्म-परसर्ग का ही प्रयोग मिलता है तथापि अब ये अपादान कारक के परसर्ग की आकांक्षा रखती हैं। इनके साथ अपादान-परसर्ग के प्रयोग का आरंभ भारतेंदु-युग से ही समझना चाहिए।

संस्कृत के परंपरानुसार इनके ('पूछना', 'कहना' आदि) साथ कर्म-परसर्ग का प्रयोग – कबीर पूछै **राम कूँ**, सकल भवनपति राइ। सब ही करि अलगा रहौ, सो विधि हमहिं बताव (कबीर-ग्रंथावली); अब क्या करें, कहाँ जाऊँ और किसको पूछूँ (नासिकेतोपाख्यान)।

उपर्युक्त उदाहरणों में अब के कवि वा लेखक अपादान-परसर्ग का ही प्रयोग करेंगे। राजा लक्ष्मणसिंह ने 'बोलना' क्रिया के साथ अपादान-परसर्ग का ही प्रयोग किया है—हे सखा **तुझसे** भी तौ मा जी पुत्र कहकर बोली हैं (शकुंतला नाटक); [जेन ने] **मुझसे** कहा था कि कि 'महँगू, जब बाबा होगा, तो तुमको बुलाऊँगी उसे खेलाने के लिये, आ जाना,…(तितली)।

इन्हीं 'पूछना', 'कहना', 'सुनाना' आदि क्रियाओं के साथ जब कर्म-परसर्ग का प्रयोग किया जाता है तब उपर्युक्त अर्थ से भिन्न अर्थ-बोध होता है। जैसे, शंकर ने रामू को पूछा है—(······ रामू के विषय में······); मैंने उन्हें खूब कहा वा सुनाया (··· उनको खूब खरा-खोटा···); नहीं नहीं अंतर्ध्यान नहीं हुई, अभी तो वह मुझको बहुत कुछ कह रही थी (भारत जननी)।

§ (१७) देश और काल का क्रिया के साथ अत्यंत संयोग बतलाने के लिये कर्म-परसर्ग का प्रयोग संस्कृत में होता है; इसके द्वारा यह व्यक्त होता है कि किस स्थान तक वा कितने काल तक कोई क्रिया चलती थी। तात्पर्य यह कि इससे देश और काल का क्रिया के साथ अविरतत्व बोध होता है। जैसे—स्थानवाचक—बभूव हि समा भूमिः समंतात्पंचयोजनम् (रामायण)। अवधिवाचक—एतावंति दिनानि त्वदीयमासीत् (पंचतंत्र)।

यदि हम संस्कृत के उपर्युक्त उदाहरणों का हिंदी-अनुवाद करें तो वह इस प्रकार का होगा—क्योंकि चारों ओर पाँच योजन तक भूमि समतल हो गई; इतने दिनों तक (यह) तुम्हारी थी। इससे ज्ञात होता है कि संस्कृत में जहाँ देश और काल वा अवधिबोध के लिये नाम में कर्म कारक की विभक्ति लगाई जाती है वहाँ हिंदी में उन्हीं के अर्थ-बोध के लिये नाम को प्रकृति रूप में (अपरसर्ग) रखकर उसके आगे केवल अत्यंत संयोगसूचक अव्यय 'तक' लगा देते हैं। उदाहरण—पर यह दशा उसकी बहुत **दिन** न रही (गुप्त-निबंधावली): सत्ताईस **दिन तक** उसे ज्वर चढ़ा रहा।

यह 'तक' संस्कृत के 'यावत्' का स्थानापन्न है।

ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत के अवधिवाचक कर्म-बिभक्ति के लिये हिंदी में केवल नाम के आगे अत्यंत संयोगसूचक 'तक' लगाने की प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में संस्कृत से ही आई है। संस्कृत में

कालवाचक कर्म कारक बनाने के लिये नाम में कर्म कारक की विभक्ति लगाकर उसके आगे अत्यंत संयोगसूचक 'यावत्' (तक) लगाते हैं। जैसे—मया मासमेकं यावद्गौरीव्रतं कर्तव्यम् (हितोपदेश) 'मुझे एक मास तक गौरीव्रत करना चाहिए'। संभवतः यही 'यावत्' हिंदी में 'तक' होकर आया।

§ (१८) कभी कभी कर्म कारक के परसर्ग द्वारा 'अमुक समय पर अमुक कार्य का होना' व्यक्त होता है; जैसे—नहीं तो **रात को** बोल-बोल के प्राण खाए जाते थे (चंद्रावली नाटिका)। संस्कृत का उदाहरण—यामेव रात्रिं ते दूताः प्रविशंति स्म तां पुरीम्। भरतेनापि तां रात्रिं स्वप्नो दृष्टोऽयमप्रियः (रामायण)। यहाँ विकल्प से अधिकरण कारक की विभक्ति का भी प्रयोग होता है।

कारक-परसर्ग-व्यत्यय और अर्थभेद

§ (१९) अब हम कारक-परसर्ग व्यत्यय और यथास्थान इसके कारण अर्थ-भेद का उदाहरण देंगे।

(क) कर्म-परसर्ग के स्थान पर अपादान-परसर्ग—राम पियारा छाड़िकर, करै आन का जाप। वेस्वां केरा पूत ज्यूं, कहै **कौन सूं** बाप (कबीरग्रंथावली)।

(ख) कर्म-परसर्ग के स्थान पर संबंध-परसर्ग—वहाँ उसके एक लड़का पैदा हुआ (इतिहास तिमिर नाशक); उनमें से कई एक के एक आन थी (गुप्त निबंधावली); ब्याह कर लो, मैं हाथ जोड़ती हूँ तुम्हारे (कुंडली-चक्र); लोग कहैं पोचु सो न सोचु न सँकोचु **मेरे**, ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं (तुलसी)।

ऐसे स्थलों पर संबंधी-परसर्ग ही न्यायतः प्राप्त है, कर्म-परसर्ग नहीं। यहाँ कर्म-परसर्ग का प्रयोग प्रांतीय समझना चाहिए। और उदाहरण—जेप्पि असेसु कसायवलु देप्पिणु अभय जयस्सु। तेप्वि-

महव्वय सिवु लहहिं झाएविणु तत्तस्सु (पुरानी हिंदी); अब्भा लग्गा डुंगरहिं पहिउ रडंतउ जाइ। जो एहा गिरिगिलणमणु सो किं धणहे धणाइ (वही); सिरि चडिआ खंति प्फलइं पुणु डालइं मोडंति। तोवि महद्दुम साउणहं अवराहिउ न करंति (वही); न ब्राह्मणस्स पहरेय्य नास्स मुंचेथ ब्राह्मणो। धि ब्राह्मणस्स हंतारं ततो धि यस्स मुंचति (धम्मपदं), इदं एलकं कस्सचि पि मारेतुं न दस्सामी 'ति (पालि पाठावलि)।

(ग) कर्म-परसर्ग और अधिकरण-परसर्ग। हिंदी में कर्म-परसर्ग के स्थान पर अधिकरण-परसर्ग तथा अधिकरण परसर्ग के स्थान पर कर्म-परसर्ग का प्रयोग बहुधा वैकल्पिक है; पर परसर्ग-प्रयोग के इस विकल्प के कारण अर्थ-भेद हो जाता है।

(१) 'अंत को दैनिक होकर आकार भी दूना कर लिया' (गुप्त निबंधावली)। कार्य की गति चलती रहे और इसके कारण जो परिणाम हो उसको व्यक्त करने के लिये 'अंत को' रखा जाता है; और 'अंत में' के प्रयोग से यह ध्वनि निकलती है कि जो परिणाम हुआ वह कार्य-गति के फल के कारण नहीं, प्रत्युत अंत में (परिणाम में) अचानक हो गया। और उदाहरण—महानंद भी अत्यंत उग्र स्वभाव, असहनशील और क्रोधी था, जिसका परिणाम यह हुआ कि महानंद ने **अंत को** शटकार को क्रोधांध होकर बड़े निविड़ बंदीखाने में कैद किया (मुद्राराक्षस); क्योंकि चमक मटक छिछोरेपन का चिन्ह है जिसका परिणाम यह होता है कि **अंत को** स्वामी के चित्त में अपनी स्त्री की ओर से एक चमक आ जाती है (दुर्लभ बंधु); और **अंत को** वह अपने प्रयत्न में इस तरह पर कृतकार्य हुआ था जान तक से हाथ धो बैठा (साहित्य सुमन)।

(२) 'उन अखबारों का कभी साथ न दिया जो एक समूह

की तरफदारी और दूसरे का विरोध करने को बहादुरी समझते हैं' (गुप्त निबंधावली)। यहाँ 'करने को' से यह अर्थ व्यक्त होता है कि वे इन कामों के करने को बहादुरी समझते हैं, वे इन्हें करें या न करें, यह बात दूसरी है। 'करने में' से यह तात्पर्य निकलेगा कि वे इन्हें करते हैं, क्योंकि इसमें वे बहादुरी समझते हैं।

(३) 'परंतु वह अपनी उदारता किसी को प्रगट नहीं होने देता था' (परीक्षागुरु)। आजकल ऐसे स्थलों पर अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग शिष्टतर समझा जाता है—आपकी प्रतिज्ञा तो संसार में सब पर विदित ही है (विद्यासुंदर); गुप्त प्रेम संसार पर प्रकट हो गया (चित्रलेखा)।

(४) निम्नलिखित स्थलों पर कर्म-परसर्ग और अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग वैकल्पिक है—मुझे जो बहुत-सा ऋण हो गया है उसे किसी तरह चुका दूँ (दुर्लभ बंधु); सखी, आप ही आपको ये हँसे— 'बड़े वीर थे, आज अच्छे फँसे!'—(साकेत)। अंतिम उदाहरण में 'हँस' धातु का सकर्मक प्रयोग है, संस्कृत में भी ऐसा प्रयोग होता है।

(५) 'और अपनी कोशिश में कामयाब न हो कभी को वियोग में जिंदगी से हाथ धो बैठता (साहित्य सुमन)। 'कभी' के पश्चात् यह कर्म का परसर्ग 'को' संदेहबोधक 'कदाचित्' की व्यंजना करता है।

(६) [illegible] एक रात्रि [illegible] में मिला और पूछा कि 'इस नगर में कौन स्त्री सुंदर है?' (मुद्राराक्षस); उस रात चित्रलेखा सो न सकी (चित्रलेखा)। यहाँ कर्मकारक के परसर्ग 'को' का लोप है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी 'को' का लोप कर देते हैं। जैसे, मैं एक दिन उनसे मिला, [illegible] बालक पाठशाला गया, इत्यादि।

करण कारक

§ (२०) सामान्यतः करण किसी क्रिया-सिद्धि का प्रमुख साधक होता है।[१]

करण का बोधक परसर्ग 'से' है, जो अनुक्त कर्त्ता और प्रयोज्य कर्त्ता के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

संस्कृत में तृतीया का प्रयोग साहचर्य तथा सादृश्य के अर्थ में भी होता है। साहचर्यवाचक तथा सादृश्यवाचक नामों या अव्ययों के साथ तथा स्वतंत्र रूप में भी तृतीया का प्रयोग उपर्युक्त दोनों अर्थों में मिलता है। इन अर्थों में तृतीया का स्वतंत्र प्रयोग वैदिक संस्कृत में बहुतायत से होता था। उदाहरण—देवो देवेभिरागमत्—(ऋग्वेद), साहं त्वया गमिष्यामि वनम् —(रामायण)। हिंदी में इन अर्थों में संबंध कारक के बोधक परसर्ग का प्रयोग होता है, इसलिये संबंध कारक पर विचार करते हुए हम इनके विषय में लिखेंगे।

§ (२१) हमने ऊपर देखा है कि प्रधानरूपेण करण का प्रयोग साधक के अर्थ में होता है। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग रीति, मूल्य, तुलना अंग वा मन-विकार, कारण, उद्देश्य आदि का बोध कराने के लिये भी होता है। इन अर्थों की व्यंजना के लिये संस्कृत में सर्वत्र करण की विभक्ति तृतीया का प्रयोग प्रचलित है। हिंदी में इन अर्थों में यद्यपि करण-परसर्ग प्रयुक्त हो सकता है, और होता है, तथापि प्राचीन तथा अर्वाचीन लेखक भी बहुधा अधिकरण-परसर्ग का

---

१. साधकतमं करणम् (अष्टाध्यायी १। ४। ४२)। ऐसी स्थिति में व्याकरण के करण तथा न्याय के करण में कोई विशेष अंतर नहीं प्रतीत होता—असाधारणं कारणं करणं।—तर्क संग्रहः।

प्रयोग करते हैं। हमारी यह बात नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी। इस प्रकार हम स्थूलरूपेण कह सकते हैं कि संस्कृत के करण—तृतीया—का विकास हिंदी के अधिकरण—अधिकरण-परसर्ग—में हुआ है।

§ (२२) **साधकवाचक करण**—मुट्ठी भर हाड़वाला व्यक्ति अपने शरीर से नहीं, प्रत्युत मन से शत्रु पर प्रहार करता है; सर्प आँख से सुनता है, इत्यादि। संस्कृत का उदाहरण—यज्ञैस्तु देवान्प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन्। पुत्रैः श्राद्धैः पितृंश्चापि आनृशंस्येन मानवान् (महाभारत)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधकवाचक करण संस्कृत से हिंदी में आकर जैसे का तैसा रहा, उसमें कोई विकास नहीं हुआ।

साधकवाचक करण के अर्थ में संस्कृत में तृतीया तथा षष्ठी का भी प्रयोग मिलता है। आधुनिक हिंदी में तृतीया के स्थान पर करणबोधक परसर्ग का प्रयोग तो होगा ही, षष्ठी के स्थान पर भी करण-परसर्ग ही प्रयुक्त होगा—वयं ग्राम्याः पशवोऽरण्यचारिणां वध्याः, 'हम ग्रामीण पशु जंगली पशुओं द्वारा (से) मारे जाते हैं।'

§ (२३) **निष्कर्षाधायक करण**—जब किसी के गुण वा दोष अथवा कर्म से उसके विषय में कोई निष्कर्ष निकाला जाता है तब गुण, दोष वा कर्म करण की विभक्ति तृतीया में प्रयुक्त होता है। इसे हम निष्कर्षाधायक करण कह सकते हैं। इस करण का प्रयोग सावधान तथा शिष्ट लेखकों में ही देखा जाता है। निष्कर्षाधायक करण की परंपरा संस्कृत से हिंदी में आई। संस्कृत का उदाहरण—औदार्येणावगच्छामि निधानं तपसामिदम् (रामायण)। हिंदी का उदाहरण—हिटलर की विध्वंसक प्रवृत्ति से लोग उसे राक्षस ही समझते हैं।

§ (२४) **मूल्यवाचक करण**—जिस भाव वा मूल्य से किसी वस्तु का क्रय वा विक्रय होता है उस मूल्य वा भाव को करण कारक की

विभक्ति में रखा जाता है। इस करण को मूल्यवाचक करण कहा जा सकता है। संस्कृत में इस स्थल पर तृतीया का प्रयोग होता है। हिंदी में ऐसे स्थल पर करण-परसर्ग का कम और अधिकरण-परसर्ग का अधिक प्रयोग प्राप्त है। अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग जनता में विशेष प्रचलित है। ग्राहक कहता है—'चावल किस भाव में बेचोगे' और विक्रेता भी कहता है—'किस भाव में लोगे'। 'भाव से' का प्रयोग विशेष शिक्षित लोग ही करेंगे। संस्कृत का उदाहरण—सहस्रेण पशून् क्रीणाति (काशिकावृत्ति)। हिंदी का उदारण—'यामा' को मैंने सात रुपए में खरीदा; दो धौल दिए, तब अभागे ने ठीक भाव पर सामग्री दी (विराटा की पद्मिनी); सोना आजकल महँगे भाव से (में) बिकता है।

अंकगणित में किसी संख्या को किसी संख्या से भाग वा गुणा देने में, व्याज की दर में तथा ऐसे ही अन्य स्थलों पर (में) करण-परसर्ग का प्रयोग होता है। उदाहरण—१२ को ८ से, ६ को ७ से, १६ को ६ से गुणा दो (अंकगणित-चक्रवर्त्ती)। ८८६०६ को २४ से भाग दो (वही)। अधन्नी रुपए महीने की दर से २४ रु० का ५ महीने में साधारण व्याज क्या होगा ? (वही)।

संस्कृत में भी 'अंकं गुणकेन हन्यात्' (लीलावती) में करण की विभक्ति का ही प्रयोग होता है।

इसी प्रकार जिस वस्तु की किसी अन्य वस्तु में परिणति होती है उसे भी करण-परसर्ग में रखते हैं—इन गरीबों की दशा देखकर बड़ी हँसी आती थी, पर आगे चलकर वही हँसी आँसुओं से बदल गई (शिव शंभु का चिट्ठा) शृंगार; रस का सुहावना समां करुणा से बदल गया (परीक्षा गुरु)। आधुनिक हिंदी में इस स्थल पर अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग होगा।

संस्कृत में ऐसे स्थल पर चतुर्थी का प्रयोग करते हैं—भक्तिर्ज्ञानायकल्पते।

§ (२५) **तुल्यतावाचक करण**—तुल्यता बोध के लिये संस्कृत तथा हिंदी में करण तथा कभी-कभी अधिकरण वा संबंध की विभक्तियों वा परसर्गों का प्रयोग होता है। उदाहरण—स्वरेण रामभद्रमनुहरति; अस्य मुखं सीतायाः मुखचंद्रेण संवदति (उत्तर रामचरित)। हिंदी में इनका रूपांतर यों होगा—स्वर से वा में रामभद्र के समान है; इसका मुख सीता के मुखचंद्र से वा की बराबरी करता है।

§ (२६) **दिशावाचक करण**—दिशा सूचित करने के लिये करण के परसर्ग का प्रयोग होता है। संस्कृत में साधारण तथा लाक्षणिक दोनों अर्थों में इसका प्रयोग चलता है; पर हिंदी में यह दिशासूचक करण-परसर्ग अधिकरण-परसर्ग के रूप में विकसित हुआ है। हिंदी में इस अर्थ की व्यंजना के लिये करण-परसर्ग भी प्रचलित है, पर बहुत कम। संस्कृत का उदाहरण—कतमेन दिग्भागेन गतः स जाल्मः (विक्रमोर्वशीय); नराधिपा बुधोपदिष्टेन पथा न यांति ये (पंचतंत्र)। संस्कृत के इन उदाहरणों को यदि हम हिंदी का रूप दें तो वे इस प्रकार के होंगे—किस मार्ग से (में वा पर) वह नीच गया है; जो राजा बुद्धिमानों द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर (से) नहीं चलते। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि संस्कृत की तृतीया हिंदी के अधिकरण-परसर्ग के रूप में आई है।

§ (२७) **कारणसूचक करण**—संस्कृत में कारण सूचित करने के लिये प्रायः तृतीया का प्रयोग होता है; इसके लिये पंचमी का प्रयोग भी मिलता है। हिंदी में अन्य स्थलों की भाँति यहाँ भी अधिकरण-परसर्ग प्रयुक्त होता है, यद्यपि करण-परसर्ग वर्ज्य नहीं है, और उसका भी प्रचलन है। ऐसे स्थलों पर करण-परसर्ग के अर्थ में अधिकरण-

परसर्ग का प्रयोग हिंदी के प्राचीन लेखकों में अत्यधिक मिलता है। संस्कृत का उदाहरण—भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः (शाकुंतल), हर्षेण नष्टास्याः क्षुन्न रोगतः (कथासरित्सागर)। हिंदी का उदाहरण—एक सैं कहने मैं पाँच और सुन लेते थे (परीक्षा गुरु) [कहने मैं=कहने से=कहने के कारण]; कल हरकिशोर क्रोध मैं भर रहा था (वही), कुल्ला करने के समय पानी के छोटे छीटों पर राजा को वटबीज की याद आई (मुद्राराक्षस) [छीटों पर=छीटों के देखने के कारण=छीटों को देखने से]; और फिर छोटी छोटी बातों पर उनकी प्रतिष्ठा हीन कर देते हैं (वही), उसे बुधुआ के अपमान पर इस तरह उत्तेजित देख कुछ लोग अपने अगल-बगलवालों से फुसफुसाने लगे (बुधुआ की बेटी), युवा का पीला मुख आनंद में प्रफुल्लित हो गया (श्यामास्वप्न) [आनंद में =आनंद से]; शूल फूल से हो जाते हैं, स्वकर्त्तव्य के पालन में (वीणा)।

§ (२८) **रीतिवाचक करण**—किसी कार्य के करने की रीति, ढंग वा शैली का बोधक करण के परसर्ग के रूप में रखा जाता है। वर्त्तमान हिंदी में इस स्थान पर संस्कृत की परंपरा के अनुसार करण-परसर्ग का ही प्रयोग अधिक प्रचलित है, पर हिंदी के प्राचीन लेखक इस करण-परसर्ग के लिये प्रायः अधिकरण के परसर्ग का ही प्रयोग करते थे। करण के परसर्ग का भी प्रयोग मिलता है। उदाहरण—इसलिये बड़ी सुगमता सै सब काम अपने-अपने समय पर होता चला जाता था (परीक्षा गुरु); इस्तरह पर अनेक प्रकार की बातचीत करते हुए लाला मदनमोहन की बग्गी मकान पर लोट आई (वही); अपने अपने ढंग में वह खूब लिखते थे (गुप्त निबंधावली); बृहत्कथा में यह कहानी और ही चाल पर लिखी है (मुद्राराक्षस); मैं आपको पते का संदूक बता सकती हूँ पर मेरी सौगंद टूट जायगी और

यह मुझे किसी तरह पर अंगीकार नहीं है (दुर्लभ बंधु); और अंत को वह अपने प्रयत्न में इस तरह पर कृतकार्य हुआ या जान तक से हाथ धो बैठा (साहित्य सुमन); और वहीं पौधे की तरह पर उसका पोषण होता है (विश्व प्रपंच)।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में करण के परसर्ग का प्रयोग हो सकता है और होता है।

§ (२६) **अवस्थासूचक करण**—किसी नाम की (संज्ञा और सर्वनाम की) विशेषता वा बाह्य अथवा अंतरावस्था सूचित करने के लिये करण की विभक्ति वा परसर्ग का प्रयोग संस्कृत तथा शिष्ट हिंदी में होता है। बोलचाल में ऐसे स्थलों पर बहुधा संबंध के परसर्ग का ही प्रयोग देखा जाता है। संस्कृत का उदाहरण—प्रकृत्या दर्शनीयः (महाभाष्य); माठरोऽस्मि गोत्रेण (वही)। बोलचाल में हम दूसरे उदाहरण को इस प्रकार कहेंगे—'मैं गोत्र का माठर हूँ', 'गोत्र से मैं माठर हूँ' यह साहित्यारूढ़ हिंदी में तो कहा ही जायगा। हिंदी का उदाहरण—क्या कोई शरीर से निर्बल होकर भी आत्मा से बलवान् नहीं हो सकता ?, तुम्हारे कहने का तात्पर्य यह कि सभी नाटे हृदय से खोटे होते हैं। यहाँ संबंध-परसर्ग का प्रयोग भी साधारण जनता में मिलेगा।

एक प्रकार से अवस्थासूचक करण से ही सटा हुआ विकार-सूचक करण भी है। यहाँ विकार से हम दो अर्थ लेना चाहते हैं, एक शरीरावयव विकार और दूसरा एक अवस्था से दूसरी अवस्था-प्राप्ति के कारण उत्पन्न विकार। इसमें केवल परिवर्त्तन का भाव निहित है, वह भला और बुरा दोनों हो सकता है।

महामुनि पाणिनि ने शरीरावयव विकार सूचित करने के लिये यह नियम बना दिया है कि इसके लिये तृतीया का प्रयोग होना

ही चाहिए[१]। हिंदी में इस स्थान पर संस्कृतपरंपरानुकूल ही प्रयोग होता है; पर बोलचाल में अवस्थासूचक करण की भाँति ही संबंध-परसर्ग का प्रयोग भी अत्यधिक प्रचलित है। संस्कृत का उदाहरण—य एवं वेद नांगेन विहूर्छति (छांदोग्योपनिषद्)। हिंदी का उदाहरण—वह दाहिनी आँख का काना और बाएँ पैर से लँगड़ा है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि हिंदी में किसी अंग विकार को सूचित करने के लिये उस अंग का नाम नहीं लिया जाता, केवल विकृत अवयव का बोधक शब्द ही यह व्यक्त कर देता है कि अमुक व्यक्ति अमुक अंग से विकृत है। जैसे, काना, लँगड़ा, लूला कहने से क्रम से तात्पर्य होगा कि आँख से काना, पैर से लँगड़ा, हाथ से लूना।

परिवर्त्तन सूचित करने के लिये संस्कृत तथा शिष्ट हिंदी में तृतीया वा करण-परसर्ग का प्रयोग मिलता है। ऊपर की ही भाँति यहाँ भी हिंदी बोलचाल में संबंध-परसर्ग भी प्रचलित है। जैसे - योरप की अवस्था क्या से क्या (बोलचाल—क्या की क्या) हो गई, अब यह नाटे से काफी लंबा हो गया है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्टरूपेण विदित होता है कि संस्कृत की तृतीया का विकास हिंदी के अधिकरण-परसर्ग में तो प्रधानरूपेण हुआ ही है, संबंध-परसर्ग के रूप में भी किसी न किसी प्रकार से यह विकसित हुआ है।

§ (३०) अब हम यह देखना चाहते हैं कि कुछ शब्दों के साथ, वा कुछ अवस्थाओं में, करणकारक की विभक्ति का प्रयोग हिंदी में आकर कुछ विकसित हुआ है वा वह संस्कृत-परंपरा के अनुसार ही स्थित है।

(अ) शपथ खाना—संस्कृत—पुत्रैरपि शपामहे (रामायण)। हिंदी-रूप—'हम अपने पुत्र की भी शपथ खाते हैं।'

---

१. येनांगविकारः—(अष्टाध्यायी, २। ३। २०)।

(आ) जीतना, ले जाना, रखना आदि क्रियाओं के साथ संस्कृत में करण तथा अधिकरण दोनों का प्रयोग मिलता है और हिंदी में केवल अधिकरण का। उदाहरण—तं रिपुं युद्धेन ('युद्धे' भी) परिभूय (पंचतंत्र) 'उस शत्रु को युद्ध में जीतकर'; स श्वानं स्कंधेनोवाह ('स्कंधे' भी) (हितोपदेश) 'वह कुत्ते को कंधे पर ले गया'; मत्पितुरुत्तमांगमुत्संगेन धारयंती ('उत्संगे' भी) (दशकुमारचरित) 'मेरे पिता के उत्तमांग को गोद में लेते हुए।'

(इ) उद्देश्य-बोधन—उद्देश्यवश किसी कार्य के करने की व्यंजना के लिये संस्कृत तथा हिंदी दोनों में संप्रदान की विभक्ति वा उसके परसर्ग के अर्थ में करण की विभक्ति वा उसके परसर्ग का प्रयोग होता है। जैसे—अध्ययनेन वसति (सिद्धांतकौमुदी), 'अध्ययन से (अध्ययन की दृष्टि से, इसके लिये) बसता है'; मैं यहाँ काम से (काम के लिये) आया हूँ।

§ (३१) **देश-कालसूचक करण**—जितने काल वा देश में किसी फल की प्राप्ति वा कार्य-सिद्धि होती है उसे (काल वा देश को) संस्कृत में करण की विभक्ति तृतीया द्वारा व्यक्त करते हैं।[१] हिंदी में ऐसे स्थलों पर अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग होता है। यहाँभी संस्कृत की तृतीया हिंदी के अधिकरण-परसर्ग में विकसित हुई है। उदाहरण—कतिपयैरेवाहोभिर्मयूर इव स बलवान्संवृत्तः (पंचतंत्र), क्रोशेन पाठस्तेनाधीतः—(सिद्धांतकौमुदी)। जब हम संस्कृत के इन करण के रूपों का अनुवाद हिंदी में करेंगे तब अधिकरण-परसर्ग का ही प्रयोग करेंगे—'कुछ दिनों में ही वह (काक) मयूर के समान बलवान् हो गया,' 'उसने एक कोस में पाठ को पढ़ा।'

§ (३२) संस्कृत के वाक्यांश 'किं प्रयोजनम्,' 'किं कार्यम्'

---

१. अपवर्गे तृतीया—(वही, २। ३। ६)।

'कोऽर्थः,' 'न प्रयोजनम्' आदि के योग में जिस वस्तु का प्रयोजन वा आवश्यकता रहती है उसके साथ तृतीया और जिसे आवश्यकता वा प्रयोजन रहता है उसके साथ षष्ठी का प्रयोग होता है। जैसे—किं मदीयेन रथकारकत्वेन प्रयोजनम् (पंचतंत्र); न मे मालविकया कश्चिदर्थः (मालविकाग्निमित्र)। यह प्रयोग कुछ अंतर के साथ जैसे का तैसा हिंदी में आया है। जिससे प्रयोजन होता है वह तो हिंदी और संस्कृत दोनों में तृतीयांत वा करण-परसर्ग के रूप में प्रयुक्त होता है, पर जिस व्यक्ति को वा का प्रयोजन होता है वह विकल्प से या तो कर्म कारक के परसर्ग के साथ रखा जाता है या संबंध कारक के परसर्ग के साथ। उदाहरण—क्योंकि बन के बसनेवाले **तपस्वियों को** इनसे क्या काज (नासिकेतोपाख्यान); बँसोर से लड़ने-झगड़ने का **उसे** क्या प्रयोजन था? (गोदान)। 'तपस्वियों का' तथा 'उसका' का भी प्रयोग हो सकता है। दूसरा उदाहरण—अहिंसावादियों का योरप की हिंसावृत्ति से कोई प्रयोजन नहीं है।

§ (३३) **कारक-परसर्ग-व्यत्यय**—कारक-परसर्ग-व्यत्यय की दृष्टि से करण कारक का यह प्रकरण करण-परसर्ग और अधिकरण-परसर्ग का व्यत्यय ही है, उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन द्वारा यह बात स्पष्ट हो गई होगी। अब भी अधिकरण-परसर्ग का तथा अन्य कारक-परसर्गों का भी व्यत्यय, अर्थ-भेद पर विशेष ध्यान रखते हुए, हम नीचे देखेंगे।

(क) **करण-परसर्ग के स्थान में संप्रदान-परसर्ग**—दुखिया मूवा दुख कों, सुखिया सुख कों भूरि। सदा अनंदी रांम के, जिन सुख दुख मेल्हे दूरि (कबीर ग्रंथावली) [दुख-कों=दुःख से (कारणसूचक)]

(ख) **करण-परसर्ग के स्थान में संबंध-परसर्ग**—(१) कंतु

सीहहो उवमिअइ तं महु खंडिउ माणु। सीहु निरक्खय गय हणय पियु पयरक्ख समाणु—(पुरानी हिंदी); सत्थावत्थहं आलवणु साहुवि लोउ करेइ। आदन्नहं मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ (वही); 'सम्म, कत्तेन ते सुंदरं कतं, सचे हि अम्हाकं उदरे हृदयं भवेय्य सारवग्गेसु चरंतानं चुण्णविचुण्णं भवेय्या' ति (पालि पाठावलि); दीपक संग शलभ भी जला न सखि, जीत सत्व से तम को, क्या देखना-दिखाना, क्या करना है प्रकाश का हमको ?—(साकेत) [देखिए § (३२)]।

(२) जदि का माइ जनमियां, कहूं न पाया सुख। डाली डाली मैं फिरौं, पातौं पतौं दुख (कबीर ग्रंथावली)। बोलियों में वा प्राचीन हिंदी में 'जब से' के स्थान में 'जब का' भी प्रयोग मिलता है।

(३) पर उसके मन में इन् बातों का बड़ा खेद रहा (परीक्षा गुरु)। 'इन बातों का' से यह ध्वनि निकलती है कि जो कृत्य हो चुका है उससे खेद है; और 'इन बातों से' यह व्यंजना होती है कि वर्त्तमान में जो कृत्य हो रहा है या जो कृत्य सदैव होता है, उसके लिये बड़ा खेद है।

(ग) **करण-परसर्ग और अधिकरण-परसर्ग**—(१) यो च वंतकसावस्स सीलेसु सुसमाहितो। उपेतो दमसच्चेन स वे कासावम-रहति (धम्मपदं); बेटी मैं भी जान्ता हूँ तेरा इसमें सहोदर का-सा प्यार है (शकुंतला नाटक); बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास। तुह जलि महु पुणु वल्लहइ विहवि न पूरिअ आस (पुरानी हिंदी); जब मैं छोटी थी मुझै माता पिता बड़े लाड में रखते थे (श्यामास्वप्न); सैनिकों के ऊपर प्रसन्न मुख मुद्रा में—वृष्टि करती थीं कुसुमों की रह रह के (उन्मुक्त); जो रहते सब जीव प्रेम में बँधि गर लाई (बुद्धचरित)। इन उदाहरणों में कई ऐसे हैं जिनमें करण-परसर्ग और अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग

वैकल्पिक हैं; जैसे, 'तेरा इसमें (= पर) सहोदर का सा प्यार है' और 'तेरा इससे सहोदर का सा प्यार है' दोनों प्रयोग चलते हैं। इसी प्रकार 'प्रेम में बँधि' का प्रयोग भी होता है और 'प्रेम सों बँधि' का भी—नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल। अली, कली ही सौं बँध्यौ, आगैं कौन हवाल (बिहारी-रत्नाकर)।

(२) ये दास मूर्तियाँ हैं चित्रित, जो घोर अविद्या में मोहित, (ग्राम्या)। यहाँ करण-परसर्ग का भी प्रयोग हो सकता है। 'अविद्या में मोहित' का यह तात्पर्य है कि अविद्या का प्रसार वा विस्तार पहले से ही है और वे इसके प्रसार वा विस्तार के कारण उसी में मूर्च्छित पड़ी हैं। 'अविद्या से मोहित' में अविद्या एक साधन वा करण है, जो उन्हें मूर्छित कर रही है। अधिकरण-परसर्ग में रखने से अविद्या का फैलाव व्यक्त होता है और करण-परसर्ग के प्रयोग से वह स्वयं करण वा साधन के रूप में व्यक्त होती है।

(३) कबीर जे धंधै तौ धूलि, बिन धंधै धूलौ नहीं। ते नर विनठे मूलि, जिनि धंधै मैं ध्याया नहीं (कबीर ग्रंथावली)। यहाँ करण-परसर्ग का प्रयोग भी होता है। 'विनठे मूलि' से यह तात्पर्य है कि जब मूल में थे तभी नष्ट हो गए, बढ़ने के पूर्व ही उनका नाश हो गया। जब यहाँ करण-परसर्ग का प्रयोग होगा तब यह व्यंजना होगी कि बढ़ने के पश्चात् उनका समूल नाश हो गया।

(४) अंत में ब्रह्मा ने दोनों में मेल कराया (सत्य हरिश्चंद्र नाटक)। ऐसे स्थल पर करण-परसर्ग का भी प्रयोग मिलता है। अधिकरण-परसर्ग द्वारा पारस्परिक आकर्षण तथा घनिष्ठता व्यक्त होती है और करण-परसर्ग द्वारा केवल मेल का ऊपरी भाव लक्षित

होता है। यहाँ अधिकरण-परसर्ग = घनिष्ठता कराई, करण-परसर्ग = मेल करा दिया, मन का मलाल निकला हो या न निकला हो।

इसी प्रकार 'बिगाड़ होना' क्रिया के साथ भी अधिकरण-परसर्ग तथा करण-परसर्ग दोनों का प्रयोग होता है—क्यों जी, एक कौमुदी महोत्सव के निषेध ही से चाणक्य चंद्रगुप्त में बिगाड़ हुई कि कोई और कारण भी है (मुद्राराक्षस)। यहाँ इनका (करण तथा अधिकरण-परसर्गों का) अर्थ-भेद भी ठीक ऊपर का-सा ही है।

(५) मैं तुम्हारे दुःख में दुखी हो गया (श्यामास्वप्न)। ऐसे स्थलों पर करण-परसर्ग का भी प्रयोग होता है। 'दुःख में' = दुःख में दुखी होकर मैं भी तुम्हारे साथ दुःख सहने के लिये प्रस्तुत हूँ। यहाँ स्थिरता तथा सहनशीलता का भाव व्यक्त होता है। 'दुःख से' = मैं तुम्हारे दुःख से केवल दुखी हूँ, तुम्हारा साथ दे सकता हूँ या नहीं, यह मैं नहीं जानता। यहाँ असहन-शीलता तथा केवल प्रदर्शन का अर्थ निकलता है।

§ (३४) **करण-परसर्ग का लोप**—यह हम सब अपनी **आँखों** देख आए (प्रेमसागर); नगर के लोगों के **मुँह** सुना है (मुद्रा-राक्षस)। इन शब्दों के अतिरिक्त अन्य भी कई ऐसे शब्द हैं जिनके आगे करण के परसर्ग का लोप कर देते हैं; जैसे, पैरों चलना, कानों सुनना, लाजों मरना आदि। इन उदाहरणों से यह व्यक्त होता है कि करण के परसर्ग का लोप करके इन शब्दों का रूप बहुवचन में रखा जाता है। और उदाहरण—लेकिन अंत में यही निश्चय हुआ कि शुभ कार्य किसी अपनी बहन के **हाथों** होना चाहिए (गोदान); राय साहब ने समझा, बिल्ली के **भागों** छींका टूटा (वही); जो पटेश्वरी के घर **माँगे** आई थी (वही)—माँगे = माँगने से = मँगनी; राज्य श्री के **हाथों** युवा अकबर ने खूब छककर पी थी वह मादक मदिरा (शेष स्मृतियाँ); सुनते ही लड़ने के **भावों**

अपना ठाठ बाँध के, दल बादल जैसे घिर आते हैं, चढ़ आया (रानी केतकी की कहानी)।

(२) **संस्कृत की तृतीया विभक्ति**—हिंदी में नाझिनी सायर घर किया, दौं लागी **बहुतेणि**। जल ही माहै जलि मुई, पूरब जनम **लिषेणि** (कबीर ग्रंथावली) । यहाँ संस्कृत के करण की विभक्ति 'एण' नाम से न लगकर 'बहुत' (अव्यय) तथा 'लिष' (क्रिया) से लगी है, और करण-परसर्ग 'से' का अर्थ व्यक्त करती है। हाँ, यह बात अवश्य हुई है कि इसमें 'ण' में 'इ' लगा दिया गया है।

संप्रदान कारक

§ (३५) कर्त्ता कर्म द्वारा (दान, क्रिया वा प्रयत्न द्वारा) जिस नाम वा वस्तु से अपना संबंध स्थापित करता या करना चाहता है उसे संप्रदान कारक कहते हैं[1]। वस्तुतः संप्रदान में कर्त्ता का किसी से संबंध-स्थापन ही प्रधान रहता है। संबंध-स्थापन का प्राधान्य कर्म तथा अधिकरण में भी देखा जाता है। इस दृष्टि से कर्म, अधिकरण तथा संप्रदान कुछ अंशों में सजातीय कहे जा सकते हैं, और यही कारण है कि जिस दृश्यगतिबोधक क्रिया के साथ द्वितीया वा कर्म-परसर्ग तथा सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग प्रचलित है उसी के साथ चतुर्थी वा संप्रदान-परसर्ग का भी प्रयोग संस्कृत तथा हिंदी दोनों में हो सकता है; जैसे, नगरं गच्छति 'नगर को जाता है', नगरे गच्छति 'नगर में जाता है' और नगराय गच्छति 'नगर के लिये जाता है।' 'गाड़ी कलकत्ता के लिये चल पड़ी (तितली)।' हिंदी में यहाँ केवल 'को' परसर्ग से संप्रदान का अर्थबोध हो जाता है। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि केवल दृश्यगतिबोधक क्रिया के साथ इन विभक्तियों वा परसर्गों का प्रयोग वैकल्पिक है, अदृश्यगतिबोधक के साथ ऐसा प्रयोग वर्ज्य है[2]। इसके अतिरिक्त संबंध-स्थापन-बोधनार्थ चतुर्थी वा संप्रदान-परसर्ग का प्रयोग नहीं होता।

संप्रदान का प्रयोग प्रधानतः इन अर्थों वा रूपों में होता है — १. जब 'किसी को कोई वस्तु दी जाती है' और २. जब 'किसी

---

१. कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम् (अष्टाध्यायी, १।४।३२)।

२. गत्यर्थ कर्मणि द्वितीया चतुर्थौ चेष्टायामनध्वनि (वही, २।३।१२)

वस्तु वा व्यक्ति को उद्देश्य करके वा उसके लिये कोई कार्य किया जाता है।' 'जाना' क्रिया के साथ चतुर्थी के प्रयोग पर विशेष दृष्टि रखने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि चतुर्थी का यह प्रयोग तो वैकल्पिक है। तो हमें यह विदित हुआ कि संप्रदान के उपर्युक्त दो भेद ही अति प्रचलित हैं।

§ (३६) छंदस् की भाषा में ही नहीं प्रत्युत सारे वैदिक काल में चतुर्थी तथा षष्ठी के प्रयोग में व्यत्यय मिलता है[१]। वैदिक काल की यह प्रवृत्ति संस्कृत-काल में भी आई, पर इसकी उतनी प्रधानता न रही। पालि वा प्राकृत-काल में षष्ठी विभक्ति की प्रधानता के कारण चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग नहीं मिलता, सभी प्राकृतों में इसका लोप हो गया। अपभ्रंश, प्राकृत के पश्चात् की श्रेणी है, इसलिये इसमें भी चतुर्थी का न मिलना स्वाभाविक है। प्राकृत तथा अपभ्रंश-काल में चतुर्थी के स्थान में षष्ठी का प्रयोग होता था। हिंदी में संस्कृत की भाँति संबंध-परसर्ग की उतनी प्रधानता न रहने के कारण संप्रदान-परसर्ग इससे (संबंध-परसर्ग से) विशेष प्रभावित न हुआ। हिंदी में संप्रदान तथा कर्म के पीछे एक विपत्ति लगी हुई है और वह विपत्ति है इन दोनों कारकों का एक ही परसर्ग 'को' का होना। लोग कभी कर्म को संप्रदान और संप्रदान को कर्म भी मान लेते हैं, ऐसी स्थिति में ये दोनों कारक एक रस हो जाते हैं। संप्रदान प्रयोग के परसर्ग 'को' का पर्यायवाची 'के लिये' भी है।

§ (३७) 'देना', 'कहना', 'दिखाना', 'प्रतिज्ञा करना', 'आछना' आदि सकर्मक क्रियाओं तथा 'रुचना', 'नमना', 'प्रत्यक्ष होना' आदि अकर्मक क्रियाओं के साथ संप्रदान के परसर्ग का प्रयोग होता है।

---

१. षष्ठी के स्थान में चतुर्थी—विभुर्विश्वस्मै भुवनाय (ऋग्वेद), यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतदन्नं दत्तम् (छांदोग्योपनिषद्)

इन क्रियाओं के साथ संप्रदान-परसर्ग के प्रयोग की परंपरा हिंदी को संस्कृत से प्राप्त हुई है। हम समझते हैं; इस प्रकार के संप्रदान के उदाहरण की आवश्यकता पाठक न समझेंगे, क्योंकि यह प्रयोग अति साधारण तथा प्रचलित है।

§ (३८) कुछ विशिष्ट अर्थों में वा कुछ शब्दों के साथ संप्रदान के के विकास तथा उसकी परंपरा पर हम नीचे विचार करेंगे।

(अ) संस्कृत और हिंदी दोनों में 'सुख', 'हित' वा 'भला' आदि शब्दों के साथ चतुर्थी वा संप्रदान-परसर्ग तथा षष्ठी वा संबंध-परसर्ग दोनों का प्रयोग होता है। संस्कृत का उदाहरण—ब्राह्मणाय हितं-सुखं (सिद्धांतकौमुदी)। हिंदी का उदाहरण—मैं तुम्हारे भले को कहता हूँ (मुद्राराक्षस); लेकिन तुम्हारे भले के लिये कहते हैं, कुछ गहने गाठे हों, तो गिरों रखकर रुपए ले लो (गोदान); उस अभागे के भाग्य में यह कहाँ लिखा था कि उसे सुख मिले।

(आ) संस्कृत की 'धृ' (धारना वा रखना) धातु की क्रियाओं के प्रयोग में जिसका कुछ ऋण रहता है उसके साथ चतुर्थी का प्रयोग होता है[1]। हिंदी में इस स्थल पर संप्रदान-परसर्ग के अर्थ में संबंध-परसर्ग का प्रयोग होता है, संप्रदान-परसर्ग का नहीं। वृक्ष-सेचने द्वे धारयसि मे (अभिज्ञान शाकुंतल)। इसका हिंदी-अनुवाद होगा 'तू मेरे दो वृक्ष सेचन धारती है', अर्थात् दो वृक्ष-सेचन मेरा तेरे यहाँ चाहिए—इतने के लिये तू मेरी ऋणी है[2]। इतने से यह स्पष्ट हो गया होगा कि हिंदी में ऐसे स्थलों पर संस्कृत की चतुर्थी का विकास संबंध-परसर्ग में हुआ है। इसे हिंदी में संप्रदान-परसर्ग में रखना अच्छा नहीं लगेगा।

---

१. धारेरुत्तमर्णः—(अष्टाध्यायी, १। ४। ३५)

२. इसे बनारसी बोली में इस प्रकार कहेंगे—'तोहरे इहाँ हमार दुइ सींच चाहो हौ।' यहाँ भी ऐसा प्रयोग संबंध-परसर्ग में ही रखा जाता है।

(इ) संस्कृत की 'स्पृह' (हिंदी का स्पृहा करना, इच्छा करना) क्रिया के साथ चतुर्थी का प्रयोग होता है। हिंदी में ऐसी क्रियाओं के साथ संप्रदान तथा संबंध दोनों के परसर्गों का प्रयोग होगा। 'परिक्षीणो यवानां प्रसृतये स्पृहयति' (नीतिशतक; भर्तृहरि)। इसका हिंदी-रूपांतर होगा—दरिद्र व्यक्ति एक मुट्ठी जौ के लिये जान देता है या दरिद्र व्यक्ति एक मुट्ठी जौ की इच्छा करता है।

(ई) संस्कृत में नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा और वषट् शब्द, जो बहुधा देवताओं को वलि देने के अवसर पर प्रयुक्त होते हैं, चतुर्थी की आकांक्षा रखते हैं। हिंदी में इनमें से 'नमः' शब्द का 'नमस्कार' रूप प्रचलित है, और जिसको नमस्कार किया जाता है उसके योग में संप्रदान-परसर्ग प्रयुक्त होता है। पर इन शब्दों के समान ही अर्थ देनेवाले हिंदी के शब्द, यथा, वंदे, प्रणाम आदि तथा इसी प्रकार निंदा और प्रशंसावाचक शब्द यथा, धिक्कार, थुड़ी, धन्यवाद, धन्य आदि के साथ भी संप्रदान-परसर्ग का प्रयोग होता है। उदाहरण—आए तुम मुक्त पुरुष, कहने—मिथ्या जड़-बंधन, सत्य राम, नानृतं जयति सत्यं, मा भैः, जै ज्ञान ज्योति, तुमको प्रणाम! (युगांत); हे देव दयामय नमस्कार (हल्दी-घाटी) [इसमें 'तुमको' का लोप है]; धिक्कार है, उन लोगों को जो समाज को धोखा देकर भी जीवित रहते हैं; इस कृपा के लिये आपको धन्यवाद; धनिया ने जमीन पर थूककर कहा—थुड़ी है, तेरी झुठाई पर (गोदान) [यहाँ अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग हुआ है; ऐसा प्रयोग भी प्रचलित है।]

(उ) संस्कृत में 'क्रुध्', 'द्रुह्', 'ईर्ष्य्', 'असूय' आदि धातुओं के योग में जो व्यक्ति इनका लक्ष्य होता है उसको चतुर्थी में रखते हैं।[१] हिंदी में इनसे बनी क्रियाओं के साथ करण और

१. क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः (अष्टाध्यायी, १।४।३७)।

अधिकरण-परसर्गों का प्रयोग वैकल्पिक है। संस्कृत का उदाहरण—नास्यै चुक्रोध (कथासरित्सागर); असूयंति सचिवोपदेशाय (कादंबरी), इत्यादि। हिंदी का उदाहरण—मैंने उनपर (से) क्रोध किया; तुम उनसे द्रोह करते हो, वह उससे (उसपर) ईर्ष्या करता है; उसे भी इंद्रदेव पर क्रोध आता था (तितली); उसे बीरूबाबू से अत्यंत घृणा हो गई (वही)। इन उदाहरणों को देखने से विदित होता है कि ऐसे स्थलों पर संस्कृत की चतुर्थी का विकास हिंदी के करण वा अधिकरण के परसर्ग के रूप में हुआ है।

§ (३६) योग्य तथा पर्याप्तार्थक नाम तथा आख्यात (यथा, प्रभु, शक्त, अलं, प्रभू) संस्कृत में चतुर्थी की आकांक्षा रखते हैं। हिंदी में ऐसी स्थिति में या तो संप्रदान-परसर्ग प्रयुक्त होता है या संप्रदान-परसर्ग के अर्थ में संबंध-परसर्ग। उदाहरण—श्रेयसेऽनल्पाय कल्पते (दशकुमारचरित); नरकाय राध्यति; प्रभुर्मल्लो मल्लाय; शक्तोमल्लो-मल्लाय; प्रभवति मल्लोमल्लाय; अलं मल्लोमल्लाय (महाभाष्य)। संस्कृत के इन उदाहरणों को यदि हम हिंदी का रूप दें तो वे इस प्रकार के होंगे—'वह प्रभूत श्रेय के लिये होता है'; 'वह नरक के योग्य बनता है'; 'एक मल्ल के लिये दूसरा मल्ल प्रभु, शक्त वा पर्याप्त है।' इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि संस्कृत की चतुर्थी का विकास ऐसे स्थलों पर हिंदी के संप्रदान-परसर्ग वा कहीं-कहीं संबंध-परसर्ग के रूप में भी हुआ है।

° संस्कृत में 'शक्त' तथा 'पर्याप्त' के साथ षष्ठी का प्रयोग भी प्राप्त है। शक्ताऽहं नास्य खेदस्य। रामान्नान्यद् बलं लोके पर्याप्तं तस्य रक्षसः (रामायण)।

§ (४०) उपर्युक्त विवेचन में एक स्थान पर हमने यह लिखा है कि स्थूलरूपेण संप्रदान को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—१. 'जब किसी को कोई वस्तु दी जाती है' और २. 'जब किसी वस्तु वा

व्यक्ति को उद्देश्य करके या उसके लिये कोई कार्य किया जाता है।' प्रथम श्रेणी के संप्रदान का हमने थोड़ा-बहुत विवेचन किया है, अब हम द्वितीय श्रेणी के संप्रदान के विषय में कुछ विचार करेंगे।

इस द्वितीय श्रेणी के संप्रदान को हम प्रधानतः दो अर्थों में प्रयुक्त पाते हैं—१. वस्त्विच्छा के अर्थ में और २. वस्तुनिमित्त के अर्थ में। वस्तुनिमित्तार्थक संप्रदान से क्रियार्थक क्रिया (Infinitive) की ध्वनि निकलती है।

वस्त्विच्छार्थक संप्रदान—जब किसी वस्तु की इच्छा से कोई कार्य होता है वा जब किसी वस्तु के एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्त्तित करने के लिये एक की (वस्तु की) स्थिति व्यक्त करनी होती है तब चतुर्थी वा संप्रदान-परसर्ग का प्रयोग संस्कृत तथा हिंदी दोनों में होता है।[१] ऐसे स्थलों पर हिंदी में आकर चतुर्थी का कोई विकास नहीं हुआ, उसका प्रयोग संस्कृत की परंपरा के अनुसार ही स्थिर रहा। यह संप्रदान बड़ा साधारण और प्रचलित है। उदाहरण—काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कांतासंमिततयोपदेश युजे (काव्यप्रकाश)। 'काव्य की रचना यश, धन, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल नाश......के लिये होती है'। कुंडलाय हिरण्यं (महाभाष्य), 'सोना कुंडल के लिये है', साहित्यकार का जीवन ज्ञान-प्रसार के लिये होता है।

वस्तुनिमित्तार्थक संप्रदान—यह संप्रदान क्रियार्थक क्रिया के समान ही है। इसकी विशेषता यह है कि अभिधा के अतिरिक्त इसमें कुछ और अर्थ छिपा रहता है। जैसे, राजा दशरथ ने पुत्र के

---

१. तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या।

२. क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः—(अष्टाध्यायी, २।३।१४)।

लिये यज्ञ करवाया, पुत्र के लिये=पुत्रोत्पत्ति के लिये। इसी प्रकार बाजार को जा रहा हूँ=बाजार करने के लिये जा रहा हूँ=बाजार को क्रय-विक्रय करने जा रहा हूँ; भीख को जा रहा हूँ; फूलों को जा रहा हूँ, इत्यादि। संस्कृत का उदाहरण—युद्धाय प्रस्थितः—(पंचतंत्र); आर्त्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि (अभिज्ञान-शाकुंतल)।

संस्कृत में क्रियार्थक क्रिया के अर्थ में भाववाचक संज्ञा से चतुर्थी का प्रयोग होता है।[१] जैसे, परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् (पंचतंत्र)। संस्कृत के प्रयोग की यह परंपरा हिंदी को भी प्राप्त है; यथा, पिताजी पूजा को वा दर्शन को गए हैं। पूजा को=पूजा करने के लिये, दर्शन को=दर्शन करने के लिये।

§ (४१) संस्कृत में प्रकृति की कुछ विशेष अवस्थाओं के कारण उत्पात की सूचना कराने के लिये चतुर्थी का प्रयोग होता है।[२] जैसे वाताय कपिला विद्युदातपायाति लोहिनी। पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता भवेत् (महाभाष्य), 'आँधी के लिये भूरी, तपन के लिये अत्यंत लाल, (अति-) वर्षा के लिये पीली तथा अकाल के लिये सफेद बिजली होती है', अर्थात् अमुक-अमुक रंग की बिजली अमुक-अमुक उत्पात की सूचना देती है। यदि हम चाहें तो हिंदी में भी इसे संप्रदान के परसर्ग के साथ रख सकते हैं, जैसा कि ऊपर किया गया है, पर इस अर्थ में सर्वत्र इसी परसर्ग का प्रयोग होता हो, ऐसा हमें न संप्रदान के विषय में ही ज्ञात होता है और न हिंदी के अन्य कारकों के विषय में ही। तात्पर्य यह कि इस अर्थ को लेकर कोई नियम नहीं बानया जा सकता।

§ (४२) संस्कृत के मन् (मानना, समझना) धातु के योग में आए

१. तुमर्थाच्च भाववचनात्—(वही, २।३।१५)।

२. उत्पातेन ज्ञापिते च—वार्तिक।

गौण कर्म (जो प्राणिवाचक नहीं होता) के लिये अनादर वा घृणा-सूचनार्थ संप्रदान वा कर्म की विभक्ति का प्रयोग होता है।[1] जैसे—कुवेरदत्तस्तृणाय मत्वार्थपतितम् (दशकुमारचरित); न त्वां तृणाय वा तृणं मन्ये (सिद्धांतकौमुदी)।

हिंदी में इस स्थान पर कर्म-परसर्ग का प्रयोग तो होता नहीं, रह गया संप्रदान-परसर्ग। जब संप्रदान-परसर्ग का प्रयोग करते हैं तब इसका रूप इस प्रकार का होता है—'मैं तुमको तृण के लिये (को) नहीं समझता।' पर ऐसा रूप कहीं नहीं मिलता। यदि 'के लिये' का 'लिये' हटाकर केवल संबंध कारक का परसर्ग 'के' रखकर उसके आगे तुल्यताबोधक समान, सम, तुल्य आदि शब्द लगा दें तो इसका प्रचलित तथा उपयुक्त रूप इस प्रकार का हो जाता है—'मैं तुमको तृण के तुल्य-समान-सम (भी) नहीं समझता।' संप्रदान के परसर्ग के अर्थ में संबंध-परसर्ग का प्रयोग भी हिंदी के ऐतिहासिक विकास के पक्ष में है। अर्थ की दृष्टि से भी ऐसा संभव है। जैसे, 'यह भोजन उनके लिये है' से यह ध्वनि निकलती है कि 'उनका' है। (देखिए § ३६)। संबंध के परसर्ग 'के' का लोप करके 'तृण के तुल्य-समान-सम' आदि का समस्त रूप 'तृण-तुल्य-सम-समान' आदि शिष्ट हिंदी में भी प्रयुक्त होता है। ऐसा जान पड़ता है कि समानतासूचक ये शब्द भी लाघव वा शीघ्र व्यक्त करने की आवश्यकता के कारण लुप्त कर दिए गए, और बोलचाल में ऐसे शब्द अकेले ही रह गए; जैसे, मैं तुमको तृण भी नहीं समझता, मैं उसे घास-भूसा भी नहीं समझता, मैं तुमको घास-भूसा समझता हूँ आदि। [तृण भी नहीं समझता = तृण के समान भी नहीं समझता; घास-भूसा समझता हूँ = घास-भूसे के समान समझता हूँ]।

---

१. मन्य कर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु—(अष्टाध्यायी, २। ३। १७)।

§ (४३) संस्कृत में आरंभ, निश्चय, आज्ञा, नियुक्ति, प्रतिज्ञा आदि बोधक क्रियाओं के साथ चतुर्थी का प्रयोग क्रियार्थक क्रिया (Infinitive) के अर्थ में होता है। हिंदी में यदि क्रियार्थक क्रिया पर लक्ष्य रहेगा तो इन क्रियाओं के साथ संप्रदान-परसर्ग का प्रयोग होगा। कहीं-कहीं संबंध-परसर्ग का प्रयोग भी हो सकता है। उदाहरण—राजमंदिर द्वारे चिताधिरोहणायोपक्रमिष्यसे (दशकुमारचरित); तेन जीवोत्सर्गाय व्यवसितम्; दुहितरमतिथिसत्कारायादिश्य (अभिज्ञान-शाकुंतल); रावणोच्छित्तये देवैर्नियोजितः (कथासरित्सागर); इत्यादि। हिंदी में भी इनका रूप संस्कृत की भाँति ही होगा—राजभवन के द्वार पर चिता पर चढ़ने के लिये तुम उपक्रम करोगे; उसने जीवन-त्याग करने के लिये निश्चय किया; पुत्री को अतिथि-सत्कार करने के लिये आज्ञा देकर; वह देवताओं द्वारा रावण का नाश करने के लिये नियुक्त हुआ।[१] यदि क्रियार्थक क्रिया का अर्थ न व्यक्त करना हो तो हिंदी के इन प्रथम चार रूपों को हम संबंध कारक के परसर्ग में रख सकते हैं, जैसे, दुहिता को अतिथि-सत्कार की आज्ञा देकर। ऐसे स्थलों पर संबंध-परसर्ग का प्रयोग करने से भी किसी न किसी रूप में क्रियार्थक क्रिया की व्यंजना हो ही जाती है।

§ (४४) **कालावधिसूचक संप्रदान**—इसका प्रयोग हिंदी में परंपरागत है। इस संप्रदान से यह व्यक्त होता है कि कुछ काल तक कोई कार्य हो रहा था वा हो रहा है पर फल-सिद्धि का निश्चय नहीं है। उदाहरण—(संस्कृत) मया······वत्सराय निवर्तनीयो निरर्गलस्तुरंगमो विसर्जितः (मालविकाग्निमित्र)। (हिंदी) पाँच वर्ष के लिये मैंने उसे गुरुकुल में भेज दिया है, ताकि वह कुछ ज्ञानार्जन कर ले।

१. इन उदाहरणों को देखने से ज्ञात होता है कि ये 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' के उदाहरणों के समान ही हैं, पर इनमें विवेचित क्रियाओं की स्थिति भी है, जो हमारा अभीष्ट है।

संस्कृत को दृष्टि में रखकर संप्रदान कारक के विकास पर विचार करते हुए हमने यथास्थान देखा है कि पालि वा प्राकृत तथा अपभ्रंश की भाँति हिंदी में भी संप्रदान-परसर्ग के स्थान तथा अर्थ में संबंध-परसर्ग का प्रयोग प्रायः प्रचलित है; यदि प्रचलित नहीं है तो इन दोनों में विकल्प तो अवश्य ही है। इतना होते हुए भी प्राकृत-काल की भाँति हिंदी में संबंध-परसर्ग के प्रयोग का बाहुल्य नहीं है।

§ (४५) **कारक-परसर्ग-व्यत्यय—(क) संप्रदान-परसर्ग के स्थान में संबंध-परसर्ग**—दीघा जागरतो रत्ति दीघं संतस्स योजनं। दीघो बालानं संसारो सद्धम्मं अविजानतं (धम्मपदं); अगलिअ-नेह-निवट्टाहं जोअणलक्खुवि जाउ। वरिस-सएणवि जो मिलइ सहि सोक्खहँ सो ठाउ (पुरानी हिंदी); दइवु घडावइ वणि तरुहुँ सउणिहं पक्क फलाइं। सो वरि सुक्खु, पइट्ठ णवि कण्णहिं खल वयणाइं (वही); जीविउ कासु न वल्लहउं धणु पुणु कासु न इट्ठु। दोण्णिवि अवसर निवडिआइं तिण-सम गणइ विसिट्ठु (वही); किं ते तत्थ गत्वा फलाफलं खादितुं न वट्टती' ति (पालि पाठावलि); तत्थ सो नहापितो सकुणे मारेत्वा पचित्वा खादंतो उपाकस्सापि देति (वही); मल्हार-राव का जो कहो तो उसका कौन सोंच है (विषस्य विषमौषधम्); तब चाणक्य दुष्ट ने सब लोगों के नेत्र के परमानंददायक उस उत्सव को रोक दिया और उसी समय स्तनकलस ने ऐसे-ऐसे श्लोक पढ़े कि राजा का भी मन फिर गया (मुद्राराक्षस); कितने पैसे तुम्हारे चाहिएँ (सुनीता)।

(ख) **संप्रदान-परसर्ग के स्थान पर अधिकरण-परसर्ग**—कोटि करम पल मैं करै, यह मन विषया स्वादि। सतगुर सबद न मानई, जनम गँवाया बादि (कबीर ग्रंथावली) [विषयास्वादि= विषय के स्वाद में=विषय के स्वाद के लिये। अलंकतो चेपि समं चरेय्य संतो दंतो नियतो ब्रह्मचारी। सब्बेसु भूतेसु निधाय

दण्डं सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खू (धम्मपदं); सुनत प्रभु के बचन ऐसे तुरत सो अजपाल, दियो लोटो टारि प्रभु पै (= प्रति), भयो परम निहाल (बुद्धचरित); कापर (= प्रति) करौं सिंगार पुरुष मोर आँधर [कापर = किसके के लिये]; चूरहिं गिउ-अभरन, उर हारा। अब कापर हम करब सिंगारा (जायसी ग्रंथावली)।

(ग) संप्रदान-परसर्ग का लोप—हिंदी के प्राचीन लेखकों में कारक-परसर्ग को लोप करके लिखने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। संप्रदान के परसर्ग के लोप के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं— ऐ मेरे जी के गाहक, जो तू मुझे बोटी-बोटी करके चील-कौवो को दे डाले, तो भी मेरी **आखों** चैन और **कलेजे** सुख हो (रानी केतकी की कहानी); हाँ लाला जवाहरलाल से कह दिया है परंतु मास्टर साहब भी तो बंदोबस्त **करने** कहते थे इन्होंने क्या किया? (परीक्षागुरु)। हिंदी के कुछ प्राचीन लेखकों में ऐसा प्रयोग बहुत मिलता है।

(घ) संप्रदान का परसर्ग—इसका परसर्ग 'को', 'के लिये', 'हेतु', 'निमित्त', 'अर्थ' आदि तो है ही; 'के पीछे', 'के लेखे' आदि का प्रयोग भी इसके परसर्ग 'को', 'के लिये' के अर्थ में होता है; यथा, इसके **पीछे** अपनी जिंदगी चौपट कर दी, उसका यह इनाम दे रहा है (गोदान); क्या काम के **पीछे** सब जान देने पर तुले हुए हैं? (वही); 'गोदान' के रायसाहब इंद्रधनुष (या धनुषयज्ञ?) के **पीछे** हल **पीछे** चंदा बाँधते थे (प्रेमचंद); उसके **लेखे** तो सारे वैद, डाक्टर, हकीम अनाड़ी हैं (गोदान)। पर इन दोनों का प्रयोग प्रांतीय समझना चाहिए।

[७]

अपादान कारक

§ (४६) वह नाम, जिससे इतर नाम के प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष (चाक्षुष वा अचाक्षुष) बिलगाव की सूचना मिलती है, अपादान कारक कहलाता है। महामुनि पाणिनि ने बिलगाव के अवधिबोधक को अपादान कारक कहा है।[१] वस्तुतः अपादान कारक के मूल में किसी वस्तु से दूसरी वस्तु के वियोग वा विभाग का अर्थ ही प्रधानरूपेण निहित है। वियोग का यह अर्थ कर्मणा (चाक्षुष) तथा मनसा (अचाक्षुष) दोनों प्रकार से सूचित किया जाता है।

यदि विचार करें तो ज्ञात होगा कि अपादान संप्रदान का ठीक उलटा है। संप्रदान में किसी की ओर किसी की प्रवृत्ति का बोध तथा अपादान में किसी से किसी की निवृत्ति का बोध होता है। संप्रदान से हमें ज्ञात होता है कि किसी को कुछ दिया वा किसी के लिये कुछ किया जाता है, और अपादान से यह विदित होता है कि किसी से कोई वा कुछ दूर हो रहा है; एक के मूल में झुकाव का भाव है और दूसरे के मूल में पार्थक्य का।

हिंदी में करण तथा अपादान दोनों का बोधक परसर्ग 'से' है; इस परसर्ग की एकता के कारण कभी-कभी इन दोनों कारकों के भेद करने में कठिनाई उपस्थित हो जाती है, पर, ऐसे स्थल कम ही आते हैं; प्रसंग से भेद स्पष्ट हो जाता है।

'कारक' के प्रकरण में हमने ऊपर लिखा है कि हिंदी की पूर्ववर्त्ती भाषाओं में संबंध का बड़ा प्राधान्य है (दे० § ६)।

१. ध्रुवमपायेऽपादानम् (अष्टाध्यायी, १। ४। २४), [ध्रुवम् = अवधिभूतम्]।

हेमचंद्र ने लिखा है कि अपभ्रंश में संबंध की विभक्ति द्वारा ही अपादान तथा संबंध दोनों की विभक्तियों का अर्थ-बोध होता है। हिंदी में अपादान-परसर्ग के स्थान पर संबंध-परसर्ग का प्रयोग होता है और यह घुल-मिल भी जाता है, अर्थ-भेद स्पष्ट लक्षित नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह कि हिंदी में इन दोनों कारकों से संबद्ध पूर्व-परंपरा स्थिर रह सकी है।

विवेचन की सुविधा के लिये स्थूलरूपेण अपादान को हम चार श्रेणियों में रख सकते हैं—१. वियोगसूचक, २. देश-काल का आरंभ और अंतरसूचक, ३. उत्पत्ति और कारणसूचक, ४. तुलना और भिन्नतासूचक।

§ (४७) **वियोगसूचक अपादान**—इस अपादान का सामान्य कर्तव्य है कहीं से (किसी स्थान से) प्रस्थान तथा गति का बोध कराना। पर इसकी परिमिति स्थान तक ही घिरी नहीं है, यह किसी स्थान वा व्यक्ति से किसी विचार, इच्छा, कथन, कार्य आदि के पार्थक्य का भी सूचक है। इन दो अर्थों के अतिरिक्त यह किसी कारणवशात् किसी वस्तु वा व्यक्ति से किसी वस्तु वा व्यक्ति को दूर रखने वा होने की भी व्यंजना करता है। इस प्रकार वियोगसूचक अपादान के मोटे रूप में तीन विभाग किए जा सकते हैं। इनपर हम नीचे विचार करते हैं।

कहीं से (किसी स्थान से) पार्थक्यबोधक अपादान कारक का स्वरूप बड़ा सामान्य है, इसके अनेकानेक उदाहरण मिल सकते हैं। हिंदी में आकर यह विकसित नहीं हुआ, इसका जो स्वरूप संस्कृत में है वही हिंदी में भी। संस्कृत का उदाहरण—अहमस्माद्द-नाद्गंतुमिच्छामि (पंचतंत्र); स्थानादनुच्चलन् (अभिज्ञान-शाकुंतल); आंदोलिकाया अवतीर्य (दशकुमारचरित)। हिंदी का उदाहरण—वह कमरे से निकल गए और कार लाने का हुक्म

दिया (गोदान); रमा दफ्तर से घर पहुँचा, तो चार बज रहे थे (गबन) आदि।

§ (४८) किसी स्थान वा व्यक्ति से किसी कार्य, विचार, इच्छा, सूचना, कथन आदि के पार्थक्यसूचक अपादान पर हम नीचे विचार करते हैं—

(ङ) किसी स्थान से कहने, सुनने, देखने आदि के अर्थ में संस्कृत तथा हिंदी दोनों में अपादान की विभक्ति वा उसके परसर्ग का प्रयोग होता है। संस्कृत का उदाहरण—अयोध्यां मंथरा तस्मात्प्रासादान्ववैक्षत (रामायण)। हिंदी का उदाहरण—उसने जीने से झाँककर देखा (गबन)।

ऐसे स्थलों का प्रयोग अर्थ की दृष्टि से अवलोकनीय है। 'जीने से देखा' का अर्थ होगा 'जीने पर चढ़कर देखा'। इसी प्रकार कोठे से सुना वा कहा=कोठे पर चढ़कर सुना वा कहा।

(ञ) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में किसी स्थान से गिरने, बहने, चूने, डिगने आदि के वाच्य तथा लक्ष्य दोनों अर्थों में अपादान की विभक्ति वा उसका परसर्ग प्रयुक्त होता है। उदाहरण— पतति न सलिलं खात्, न सत्यादगाः (छांदोग्योपनिषद्); निश्चयान्न न चचाल सः (कथासरित्सागर)। हिंदी का उदाहरण— दोनों की आँखों से आसुओं की धारा बह रही थी (गोदान); हाँ, ननीगोपाल उस संघ से अलग हो गया (तितली); दोनों रिक्शा से लुढ़ककर नीचे आ गिरे (वही); कर्मवीर अपने पथ से डिगते कब हैं; लेकिन अपने नेम-धर्म से नहीं चूके (गोदान); आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाईं (मतिराम)।

(ण) संस्कृत में 'लेना', 'प्राप्त करना' के अर्थ में अपादान तथा संबंध की विभक्तियों का प्रयोग होता है। इस अर्थ में संस्कृत की यह परंपरा हिंदी में भी आई है। उदाहरण— क्षुरभांडात्क्षुर-

मेकं समाकृष्य (पंचतंत्र); कुतोऽपि धनिकात्किंचिद् द्रव्यमादाय (वही)। हिंदी का उदाहरण—भोला झल्लाकर उठे और सिरहाने से लकड़ी उठाकर चले कि नोहरी ने लपककर उनका पहुँचा पकड़ लिया (गोदान); रुपया-पैसा, गहना-कपड़ा, जो चाहो मुझसे लो (वही); दूसरों के खेत-खलिहान से अनाज उड़ा लिया करता था (वही); लेकिन सिंहनी से उसका शिकार छीनना आसान नहीं, यह समझ लीजिए (वही)। यदि हम इन उदाहरणों को संबंध कारक के परसर्ग के साथ रखें तो किसी प्रकार का अर्थभेद नहीं लक्षित होगा, प्रयोग एक सा ही लगेगा है; जैसे, 'छुरे की पेटी से वा का छुरा लेकर' तथा 'सिरहाने से या सिरहाने की लकड़ी उठाकर' के अर्थ में कोई भेद उपस्थित न होगा। इन दोनों उदाहरणों में संबंध तथा अपादान दोनों के परसर्गों के प्रयोगों से यही अर्थ निकलेगा कि उक्त स्थानों में वा पर रखी वस्तु को लेकर वा उठाकर।

(न) किसी से सूचना पाने, सुनने, सीखने के अर्थ में संस्कृत तथा हिंदी दोनों में अपादान की विभक्ति वा उसके परसर्ग का प्रयोग होता है।[1] उदाहरण—स्वजनेभ्यः सुतविनाशं श्रुत्वा (पंचतंत्र); कुतश्चित्संलापं जनसमाजादुपलभ्य (दशकुमारचरित); मयातीर्थादभिनयविद्या शिक्षिता (मालविकाग्निमित्र)। हिंदी में यदि हम इनका रूपांतर करें तो वह इस प्रकार का होगा—स्वजन से सुत-विनाश सुनकर; कहीं जन-मंडली से संलाप जानकर; मैंने गुरु से अभिनय-विद्या सीखी।

(म) संस्कृत में किसी से कुछ माँगना, चाहना आदि के अर्थ में अपादान की विभक्ति का प्रयोग होता है। इन प्रयोगों की परंपरा ज्यों की त्यों संस्कृत से हिंदी में आई है, यहाँ आकर कोई

१. आख्यातोपयोगे—(अष्टाध्यायी, १।४।२६)।

विकास नहीं हुआ। उदाहरण—केनाभ्यो याचितं भूपात् (कथासरित्सागर); याचमानाः परादन्नं परिधावेमहिश्ववत् (महाभारत)। हिंदी का उदाहरण—समाज साहित्यकारों से यही चाहता है कि वे उसकी मानसिक भूख पूरी करें; कर्मशील किसी से दया-याचना नहीं करता; मैं तो खुद आप से अपने उद्धार की याचना करने जा रही हूँ (गोदान); लेकिन आज मैं आपसे आँचल फैलाकर भिक्षा माँगती हूँ (वही)।

ऐसे स्थलों पर विभाग (ण) की भाँति बिना किसी अर्थ-भेद के संबंध की विभक्ति वा परसर्ग का भी प्रयोग हो सकता है।

§ (४६) किसी कारणवश किसी वस्तु वा व्यक्ति से किसी वस्तु वा व्यक्ति को दूर रखने वा होने के अर्थों में भी वियोगसूचक अपादान का प्रयोग मिलता है। हिंदी में ऐसे प्रयोग संस्कृत की परंपरा से प्राप्त हैं। इस अपादान के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि यह किसी से असहमत होने, हटने, छूटने आदि के अर्थों में विशेषरूपेण प्रयुक्त होता है। यदि इसे यों कहें तो अधिक स्पष्ट हो जाय कि यह प्रायः लक्षित अर्थों में प्रयुक्त मिलता है। इसके कुछ विशिष्ट प्रयोगों पर हम नीचे विचार करते हैं।

(श) किसी से असहमत होना, इनकार करना, संबंध-विच्छेद आदि के अर्थों में इस अपादान का प्रयोग संस्कृत तथा हिंदी दोनों में होता है। उदाहरण—संजीवकं प्रभोर्विश्लेषयामि (पंचतंत्र); चंद्रगुप्तादपरक्ताः संतः (मुद्राराक्षस)। हिंदी का उदाहरण—हो सकता है कोई मुझसे असहमत यदि मैं सत्य का अवलंब लेकर चलूँ; हालाँ कि अभी तक उन्हें जुरमाने के रुपए नहीं मिले थे और वह उसके पाने से इनकार कर सकते थे (गोदान)।

(ष) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में किसी से छूटने के अर्थ में वियोगसूचक अपादान का प्रयोग मिलता है। संस्कृत का उदाहरण—

तां बंधनाद्विमुच्य (पंचतंत्र); सेयमद्य तस्मादेवसो निरमुच्यत। हिंदी का उदाहरण—शोभा निराश होकर बोले—न जाने इन महाजनों से कभी गला छूटेगा कि नहीं (गोदान); तुम्हारे साथ सारी जिंदगी तलख हो गई, भगवान मौत भी नहीं दे देते कि इस जंजाल से जान छूटे (वही); इन आडंबरों और पाखंडों से मुक्त होने के लिये उसका मन सदैव ललचाया करता है (वही); उसे तो अपनी मिस्सी-काजल, माँग-चोटी ही से छुट्टी नहीं मिलती (वही); और जब काम-काज से अवकाश मिलता, तो प्यार करती (वही); बड़ा विकट है रण यह, देखें कबतक तुम इससे उबरो (त्रिशूल)।

(स) किसी अधिकार वा स्थान से वंचित करना वा होना, गिरना वा गिराना आदि के अर्थों में संस्कृत तथा हिंदी दोनों में वियोगसूचक अपादान का प्रयोग होता है। उदाहरण—असावत्यंतनिर्भग्नस्तव पुत्रो भविष्यति सुखेभ्यश्च राजवंशाच्च (रामायण)। हिंदी का उदाहरण—कितने ही उत्कोच-सेवी पद से उतार दिए जाते हैं, दुराचरण मनुष्य को सत्पथ से गिरा देता है।

§ ४८ के विभाग (ञ) के प्रयोगों से ये प्रयोग कुछ मिलते-जुलते हैं।

(ह) किसी कार्य से रुकना, रोकना, दूर रहना आदि के अर्थों में संस्कृत तथा हिंदी दोनों में इस अपादान का प्रयोग मिलता है। उदाहरण—वत्सैतस्माद्विरम (उत्तररामचरित); निवर्तयास्माद्सदीप्सितन्मनः (कुमारसंभव); विरम कर्मणोऽस्मान्मलीमसात् (दशकुमारचरित)। हिंदी का उदाहरण—ईश्वरीय आदेश यही है निर्बलता से हटे रहो (त्रिशूल); पापी पाप करने से कब रुकता है?

(क्ष) संस्कृत प्रमद् और हिंदी जी चुराना तथा ऐसे ही अन्य अर्थों के योग में अपादान की विभक्ति वा उसके परसर्ग का प्रयोग होता है। इनके साथ अधिकरण की विभक्ति वा उसके

परसर्ग का प्रयोग भी प्रचलित है। उदाहरण—स्वाध्यायान्मा प्रमदः (तैत्तरीयोपनिषद्); स्वाधिकारात् प्रमत्तः (मेघदूत); न प्रमाद्यंति प्रमदासु विपश्चितः (मनुस्मृति)। हिंदी का उदाहरण—जी न चुराओ जीवन-रण से समर शूरवत् डटे रहो (त्रिशूल); और परिश्रम से जी नहीं चुराता (गोदान)।

यहाँ अधिकरण-परसर्ग का भी प्रयोग हो सकता है, पर इसका प्रयोग बोलियों में ही अधिक मिलता है, शिष्ट हिंदी में बहुत कम; जैसे, बनारसी बोली में कहते हैं—काम में जिउ चोराइब कौनो अच्छी बात हौ!

§ (५०) वियोगसूचक अपादान कारक के इसी तृतीय श्रेणी में निवारणार्थ क्रियाओं तथा कृदंतों के साथ अपादान की विभक्ति का प्रयोग संस्कृत में होता है।[१] इनके साथ प्रयोग की यह परंपरा संस्कृत से हिंदी में भी आई है। उदाहरण—वृथा कोलाहलाद्धास्याद् द्यूतात्पानाच्च वारितः, मातामहेन प्रतिनिषिध्यमानः स्वयंग्रहात्। हिंदी का उदाहरण—इसको यहाँ से हटाओ; और वायु को नासिका में जाने से रोकता है (भाषाविज्ञान)।

§ (५१) भय, विपत्ति आदि से बचने के अर्थ में जिस ओर से वा जिससे भय, विपत्ति आदि आ रही हो, उसके साथ अपादान की विभक्ति वा उसके परसर्ग का प्रयोग संस्कृत तथा हिंदी दोनों में होता है।[२] संस्कृत का उदाहरण—त्वया पुत्रोऽयं नकुलाद्रक्षणीयः (पंचतंत्र); अधर्मात् पाहि मां राजन् (महाभारत); इमां परोप्सुर्दुर्जातेः (मालविकाग्निमित्र)। हिंदी का उदाहरण—मेहता ने बच्चे के हाथों से अपनी मूँछों की रक्षा करते हुए कहा—मेरी स्त्री कुछ और ही ढंग की होगी (गोदान); रोटियाँ ढाल बनकर अधर्म से

१. वारणार्थानामीप्सितः—(अष्टाध्यायी, १।४।२७)।

२. भीत्रार्थानां भयहेतु—(वही, १।४।२५)।

हमारी रक्षा करती हैं (वही); भगवान कुकर्म से उसे बचाए रखें और वह कुछ नहीं चाहता (वही)।

§ (५२) जिस वस्तु वा व्यक्ति से वा का डर या त्रास होता है उसके साथ संस्कृत में अपादान की विभक्ति का प्रयोग होता है। ऐसे स्थलों पर षष्ठी का प्रयोग भी प्रचलित है। संस्कृत की भाँति हिंदी में भी ऐसे स्थलों पर अपादान तथा संबंध-परसर्ग प्रयुक्त मिलते हैं। उदाहरण—लुब्धकाद् बिभेमि (पंचतंत्र); संमानाद् ब्राह्मणो नित्य-मुद्विजेत विषादिव (मुद्राराक्षस); अशंकितेभ्यः शंकेत शंकितेभ्यश्च सर्वशः (महाभारत)। हिंदी का उदाहरण—रमा जेल से डरता था। जेल-जीवन की कल्पना ही से उसके रोएँ खड़े हो जाते थे (गबन); सभ्यता की वर्त्तमान स्थिति में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से वैसा भय तो नहीं रहा जैसे पहले रहा करता था पर एक जाति को दूसरी जाति से, एक देश को दूसरे देश से, भय के स्थायी कारण प्रतिष्ठित हो गए हैं (चिंतामणि); अगर तुझे पंचायत का डर नहीं, तो मैं क्यों पंचायत से डरूँ ? (गोदान)।

अंतिम उदाहरण से यह बात ज्ञात होती है कि ऐसे स्थलों पर संबंध-परसर्ग का भी प्रयोग प्रचलित है और इसके विषय में हम इसी अंक में ऊपर कह चुके हैं। उदाहरण—इसका तो मुझे कभी भय नहीं हुआ (वही)।

इसी प्रकार जब डर के कारण जिससे हम अपने को छिपाते हैं वा हम स्वयं उसको नहीं देखना चाहते तब उसके साथ पंचमी का प्रयोग होता है[१]। यथा, उपाध्यायादंतर्धत्ते; मातुर्निलीयते कृष्णः (सिद्धांतकौमुदी)। इसका रूपांतर हिंदी में इस प्रकार होगा—वह उपाध्याय से अपने को छिपाता है अथवा छिपता है; कृष्ण अपने को माता से छिपाता है; वह सबसे छिपना चाहता था (तितली)।

१. अंतर्धौ येनादर्शनमिच्छति—(वही, १।४।२८)।

§ (५३) **देश-काल का आरंभ तथा अंतरसूचक अपादान**— इस अपादान से यह व्यक्त होता है कि किस स्थान से तथा किस समय से किसी कार्य की गति आरंभ हुई है, इससे यह भी व्यक्त होता है कि किसी स्थान तथा समय से कार्य की गति आरंभ होकर किसी स्थान तथा समय तक आकर रुक गई है। इसका यह दूसरा स्वरूप अंतर वा अवधि का बोध कराता है। इस प्रकार इस अपादान के दो रूप हमारे संमुख आते हैं।

देश-काल का आरंभकसूचक अपादान—इस अपादान के स्वरूप पर हमने अभी विचार किया है। इसका प्रयोग जिस अर्थ में संस्कृत में होता है उसी अर्थ में हिंदी में भी। हिंदी में आकर इसमें कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। देशारंभसूचक अपादान का केवल हिंदी उदाहरण हम आगे देते हैं—दस बजे घर से निकले थे, अभी तक पता नहीं (गबन); बुढ़िया यहाँ से चली, तो मानों अंचल में आनंद की निधि भरे हो (वही)।

इसी देशारंभसूचक अपादान के साथ ही हम दिशासूचक अपादान पर भी विचार कर लें तो अतिप्रसंग न होगा। संस्कृत में जिस स्थान से कोई दिशा सूचित की जाती है उसके योग में प्रायः पंचमी का प्रयोग होता है; पर कुछ विशिष्ट स्थितियों में षष्ठी तथा तृतीया भी प्रयुक्त मिलती है। संस्कृत की भाँति हिंदी में भी ऐसे स्थलों पर अपादान तथा संबंध दोनों के परसर्गों का प्रयोग प्रचलित है, पर संबंध परसर्ग का प्रयोग ही विशेषरूपेण प्राप्त है, और अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। संस्कृत का उदाहरण—तीर्थस्थानात्प्राच्यां दिशि (दशकुमारचरित); प्राक् प्रत्यग्वा ग्रामात् (सिद्धांतकौमुदी); श्वभ्रमखनत्पार्श्वतस्तस्य (रामायण); दक्षिणेन वृक्षवाटिकामालाप इव श्रूयते (अभिज्ञानशाकुंतल); उत्तरेणास्य (रामायण)। हिंदी का उदाहरण—सामने से गिरधर ताड़ी पिए, झूमता चला आ रहा

था (गोदान); भारत के उत्तर में हिमालय पर्वत तथा दक्षिण में हिंद महासागर है; रामनगर जाने के लिये काशी से पूरब जाना होगा।

हमने दिशासूचक अपादान के संस्कृत तथा हिंदी दोनों उदाहरणों को ऊपर देखा है। यहाँ हम देखना यह चाहते हैं कि कहाँ पंचमी वा अपादान-परसर्ग का और कहाँ षष्ठी वा संबंध-परसर्ग का प्रयोग भला लगता है। जिस स्थान से हम दिशा सूचित करना चाहते हैं उसके साथ जब संबंध-परसर्ग का प्रयोग करते हैं तब जिस दिशा को सूचित करना होता है उसके साथ प्रायः कोई कारक-परसर्ग (यथा, अधिकरण, करण-परसर्ग आदि को) लगा देते हैं। और जब अपादान-परसर्ग का प्रयोग करते हैं तब या तो दिशा के नाम के आगे कोई कारक-परसर्ग नहीं लगाते या दिशा के नाम के पश्चात् 'दिशा' शब्द जोड़कर कोई कारक परसर्ग लगाते हैं। यही कारण है कि 'भारत के उत्तर में हिमालय पर्वत तथा दक्षिण में हिंद महासागर है' में अपादान-परसर्ग का तथा 'रामनगर जाने के लिये काशी से पूरब जाना होगा' में संबंध-परसर्ग का प्रयोग भला नहीं लगता। यदि 'पूरब' के आगे 'दिशा' शब्द रखकर उसमें अधिकरण का परसर्ग लगाएँ तो संबंध-परसर्ग का प्रयोग उपयुक्त जान पड़ेगा।

कालारंभसूचक अपादान—संस्कृत का उदाहरण—एति जीवंतमानंदो नरं वर्षशतादपि। हिंदी का उदाहरण—नीलकोठी में इधर कई दिनों से भीड़ लगी रहती है (तितली); गोपी इधर कई महीनों से कसरत करता था (गबन); आज दस बजे ही से लू चलने लगी और दोपहर होते-होते तो आग बरस रही थी (गोदान); दो साल से एक धेला सूद नहीं दिया, पचास रुपए तो मेरे सूद के होते हैं (वही)।

§ (५४) **देश-काल का अंतरसूचक अपादान**—इससे किसी देश वा काल से किसी देश वा काल तक का अंतर वा अवधि सूचित

होती है, यही इसका सामान्य स्वरूप है, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं। हिंदी में इस कारक का प्रयोग संस्कृत की परंपरा से प्राप्त है। जिस स्थान वा समय से किसी स्थान तथा समय तक की दूरी मापी जाती है उसके साथ पंचमी का प्रयोग होता है। देश वा स्थान का अंतरबोधक शब्द प्रथमा वा सप्तमी में रखा जाता है और काल वा समयावधि वा अंतरवाचक शब्द सप्तमी में[१]। उदाहरण—गवीधूमतः सांकाश्यं चत्वारि योजनानि चतुर्षु योजनेषु वा (महाभाष्य); कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे (वही)। हिंदी का उदाहरण—नदी गाँव से आध मील पर थी (गोदान); धनिया सिर से पाँव तक भस्म हो उठी (वही); होरा ने उसे सिर से पाँव तक देखकर कहा—तुम भी तो बहुत दुबले हो गए दादा ! (वही); 'कातिक से अगहन एक मास पर पड़ता है'; आषाढ़ से भादों तक खूब वर्षा होती है।

हिंदी के उपर्युक्त उदाहरणों से विदित होता है कि जहाँ देश तथा काल के अंतर व अवधिबोधक शब्द संख्या में रहते हैं वहाँ संस्कृत के प्रयोग की ज्यों की त्यों प्रवृत्ति हिंदी में आई है। और '......से......तक' का प्रयोग संस्कृत के उपसर्ग 'आ' के साथ पंचमी के प्रयोग से प्रभावित जान पड़ता है। इसका विवेचन हम आगे करते हैं।

§ (५५) संस्कृत का उपसर्ग 'आ' जो 'से', 'तक', 'भर' तथा '...से......तक' का अर्थबोधक है, पंचमी के साथ प्रयुक्त होता है और देश-कालारंभ तथा अंतरसूचक अपादान का अर्थ व्यक्त करता है। संस्कृत में इस कर्मप्रवचनीय के साथ पंचमी लगती है, पर हिंदी में यह शुद्ध नाम के साथ प्रयुक्त होता है, नाम में कोई कारक-परसर्ग नहीं लगाया जाता। संस्कृत के 'आ' कर्मप्रवचनीय का प्रयोग हिंदी

---

१. यतश्चाध्व कालनियमानं तत्र पंचमी। यद्युक्तादध्वनः प्रथमा सप्तम्यौ। कालात् सप्तमी च वक्तव्या—वार्तिक।

में इस रूप में विकसित होकर अबतक जीवित है। इसका प्रयोग बहुधा संस्कृतज्ञ लेखकों में ही सुचारुरूपेण प्राप्त होता है। संस्कृत का उदाहरण—देश-कालारंभसूचक—आमूलाच्छ्रोतुमिच्छामि (अभिज्ञान-शाकुंतल); आबाल्यात्तापसोऽभवम् (कथासरित्सागर)। देश-कालांतरसूचक—आप्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु (अभिज्ञानशाकुंतल), आकर्णाच्छिन्नवक्त्रः। हिंदी का उदाहरण—देश-कालारंभसूचक—स्वामी दयानंद आजन्म ब्रह्मचारी थे; आजीवन सुखी कौन रहता है; अज्ञान जातियाँ समय के चपेट से आमूल नष्ट हो गईं। देश-कालांतर-सूचक—'आसेतु हिमालय'[1], आपादमस्तक, आकंठ, आसायं, सूरसागर इस प्रकार के रत्नों से आपादमस्तक लदा है (सूर-साहित्य)।

§ (५६) **उत्पत्ति और कारणसूचक अपादान**—उत्पत्तिसूचक अपादान के विषय में हम पहले विचार करेंगे। इस अपादान का सामान्य स्वरूप है किसी कारण वा मूल से किसी कार्य वा वस्तु की उत्पत्ति। प्रधानतः इसे हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—(१) किसी मूल कारण से किसी कार्य वा वस्तु की उत्पत्ति और (२) एक अवस्था वा रूप से दूसरी अवस्था वा रूप की उत्पत्ति।

(१) संस्कृत में 'जन्' (हिंदी में 'उत्पन्न होना') धातु के योग में मूल कारण के साथ पंचमी का प्रयोग होता है।[2] इसी अर्थ में हिंदी में भी ऐसा ही प्रयोग प्रचलित है; यहाँ आकर यह किसी दूसरे रूप में विकसित नहीं हुआ, अपनी परंपरा के अनुकूल ही स्थिर रहा। उदाहरण—प्राणाद्वायुरजायत (ऋग्वेद); सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यंते (छांदोग्योपनिषद्); वाताहताच्च जल-धेरुदतिष्ठन्महोर्मयः (कथासरित्सागर)। हिंदी का उदाहरण—लगभग

---

१. काशी के हिंदी-साहित्य-संमेलन के अवसर पर किए गए श्री काका कालेलकर के एक भाषण से।

२. जनिकर्तुः प्रकृतिः (अष्टाध्यायी, १।४।३०)।

प्रत्येक प्रकार के वर्णों की उत्पत्ति फेफड़ों से निकली हुई प्रश्वास-रूप वायु से होती है (भाषाविज्ञान)।

यहाँ संस्कृत के 'जन्' धातु (हिंदी 'होना', 'उत्पन्न होना') के साथ कुछ प्रयोग तथा हिंदी में उनके विकसित रूप अवलोकनीय हैं। संस्कृत में वीज-वप्ता के साथ पंचमी और जिससे संतानोत्पत्ति होती है उसके साथ सप्तमी का प्रयोग होता है; कभी-कभी वीज-वप्ता के साथ षष्ठी का प्रयोग भी मिलता है। और, जब वीज-वप्ता का नामोल्लेख नहीं होता तब जिससे संतान होती है उसके योग में भी सप्तमी प्रयुक्त मिलती है। यथा, (क) जातः पुत्रो दशरथात्कैकेय्याम् (रामायण); (ख) शुकनासस्यापि ज्येष्ठायां ब्राह्मण्यां तनयो जातः (कादंबरी); (ग) परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुंडगोलकौ (मनुस्मृति)।

हिंदी में इनका क्या रूप होगा अब इसे देखना चाहिए—

(क) 'दशरथ से कैकेयी के पुत्र हुआ।' हिंदी में 'दशरथ से कैकेयी में पुत्र हुआ' कभी प्रयुक्त नहीं होता। तो, यहाँ वीज-वप्ता के साथ लगा कारक-परसर्ग संस्कृत के अनुकूल ही है, परंतु जिससे संतान जनी जाती है उसके कारक-परसर्ग में परिवर्त्तन हो गया; इस स्थल पर संस्कृत में सप्तमी का प्रयोग होता है और हिंदी में कर्म-परसर्ग का, कभी-कभी संबंध-परसर्ग का भी प्रयोग मिलता है। जैसे—वहाँ उसके एक लड़का पैदा हुआ (इतिहास तिमिर नाशक); चित्रलेखा के एक पुत्र हुआ (चित्रलेखा)।

(ख) 'शुकनास के वा का जेठी ब्राह्मणी को पुत्र हुआ', यहाँ 'शुकनास' के योग में संबंध-परसर्ग का प्रयोग अपादान-परसर्ग के अर्थ में ही समझना चाहिए। 'जेठी ब्राह्मणी' के योग में हिंदी में अपादान तथा संबंध-परसर्गों का प्रयोग भी हो सकता है—शुकनास

का जेठी ब्राह्मणी से वा के पुत्र हुआ। तीसरे उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जायगी।

(ग) 'दूसरे की स्त्री के, से वा को कुंड और गोलक नामक दो पुत्र उत्पन्न होते हैं।'

इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि ऐसे स्थलों पर वीज-वप्ता के साथ लगा कारक-परसर्ग तो हिंदी में आकर जैसे का तैसा ही रहा, पर जो संतान जनता है उसके साथ लगनेवाला कारक-परसर्ग हिंदी में आकर कई कारक-परसर्गों में विकसित हुआ; यथा, संस्कृत की सप्तमी=हिंदी का कर्म, अपादान, संबंध-परसर्ग। पर, इन तीनों कारक-परसर्गों के प्रयोग के विषय में निर्णय नहीं दिया जा सकता, अपनी रुचि तथा तर्क के अनुसार ही ऐसे स्थलों का प्रयोग चलता है। परंतु, इन स्थितियों में हेरफेर कर उपर्युक्त तीन कारक-परसर्गों का ही प्रयोग संभव है।

(२) संस्कृत में 'भू' धातु (हिंदी का 'निकलना', 'होना') के योग में मूल स्रोत, प्रथम अवस्था वा रूप के साथ पंचमी का प्रयोग होता है।[१] हिंदी में भी ऐसे स्थलों पर अपादान-परसर्ग का ही प्रयोग होता है। संस्कृत का उदाहरण—हिमवतो गंगा प्रभवति (महा-भाष्य); लोभात् क्रोधः प्रभवति (हितोपदेश)। हिंदी का उदाहरण—बारि मथे बरु होय घृत, सिकता तें बरु तेल। बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धांत अपेल (तुलसी); 'लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है।'

§ (५७) **कारणसूचक-अपादान**—इस अपादान द्वारा किसी कारण से किसी परिणाम की व्यंजना होती है। स्थूलरूपेण उत्पत्ति तथा कारणसूचक अपादानों में कोई अंतर लक्षित नहीं होता, पर अंतर

१- भुवः प्रभवः (वही १।४।३१)।

है अवश्य। उत्पत्तिसूचक अपादान कारक की अवस्था में बहुधा जातिवाचक तथा व्यक्तिवाचक नामों के साथ पंचमी का प्रयोग देखा जाता है, यह बात § ५६ से कुछ-कुछ स्पष्ट हो गई होगी। और कारणसूचक अपादान की अवस्था में प्रायः भाववाचक नामों के योग में पंचमी का प्रयोग होता है।

हमने § २७ में कारणसूचक करण पर भी विचार किया है, जो कारणसूचक अपादान से ठीक मिलता जुलता है। इन दोनों कारकों का प्रयोग इस अर्थ में (कारण के अर्थ में) अनेक अवस्थाओं में वैकल्पिक भी है। पर महामुनि पाणिनि ने इनके प्रयोग के लिये कुछ अवस्थाओं वा अवसरों के अनुसार नियम बना दिए हैं, इन्हीं नियमों को दृष्टि में रखकर प्रयोग चलता है, और किसी भ्रम की आशंका नहीं रहती। किसी भ्रम की आशंका न रहने का दूसरा कारण इन कारकों की विभक्तियों का रूप एकवचन तथा बहुवचन में भिन्न-भिन्न होना भी है। द्विवचन में इनकी विभक्तियाँ एक-सी हैं।

हिंदी में भी कारणसूचक करण तथा अपादान का प्रयोग वैकल्पिक है। पर, संस्कृत की भाँति हिंदी में इनके प्रयोग के लिये कोई नियम नहीं लक्षित होता। अर्थ की दृष्टि से इनमें इतनी समता है कि यह बात स्पष्ट नहीं होती की कहाँ करण का प्रयोग है और कहाँ अपादान का। भेद स्पष्ट न होने का मूल कारण है इन दोनों कारकों के परसर्गों का एक होना। परसर्गों की इस एकता के कारण इन दोनों कारकों को अन्य स्थलों पर पहचानने में असुविधा तो होती ही है, कारणसूचक अर्थों के बोध में बड़ी बाधा उपस्थित हो जाती है।

कारणसूचक अपादान का स्वरूप हमने ऊपर देखा है, अब उसका उदाहरण भी देखना आवश्यक है। संस्कृत का उदाहरण—सौहृदादपृथगाश्रयां (उत्तररामचरित); दिव्यः पतंत्येव शापान्मा-

नुषयोनिषु (कथासरित्सागर), दुर्मंत्रान्नृपतिर्विनश्यति यतिः संगात्सुतो लालनात्। विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयात् (पंचतंत्र)। हिंदी का उदाहरण—तो उसको स्मृति पुत्र-स्नेह से सजीव होकर उसे रुलाने लगी (गोदान); संस्कृत वर्णमाला का वस्तुतः आधार उच्चरित भाषा ही है, यह प्रत्येक वर्ण के नाम से स्पष्ट है (भाषाविज्ञान)।

§ (५८) संस्कृत में स्त्रीलिंग नामों के अतिरिक्त सभी लिंगों के नामों में कारणसूचक के लिये तृतीया तथा पंचमी का प्रयोग वैकल्पिक है। यथा, जाड्येन जाड्यात् वा बद्धः (सिद्धांतकौमुदी)। हिंदी में इसका अनुवाद होगा—'वह जड़ता से बाँधा गया।' हिंदी में इसके लिये कोई नियम नहीं है, सभी लिंगों के योग में इस अर्थ में इन दोनों कारक-परसर्गों का प्रयोग हो सकता है। ऐसे स्थलों में प्रयुक्त कारक-परसर्गों के पहचानने में प्रायः भ्रम भी हो जाता है।

कारण सूचित करने के लिये कभी-कभी संस्कृत में स्त्रीलिंग नामों के साथ पंचमी का प्रयोग भी होता है—नास्ति घटोऽनुपलब्धेः (वही)।

§ (५९) संस्कृत में तर्क उपस्थित करने के लिये, किसी प्रश्न का संक्षेप में तार्किक उत्तर देने के लिये तथा ऐसे ही अन्य कारण-सूचक अर्थों में पंचमी का प्रयोग प्रचलित है। हिंदी में भी यद्यपि ऐसे स्थल लेखरूप में बहुत कम मिलते हैं, केवल उपन्यास, कहानी आदि के कथोपकथन तथा नित्य प्रति के बोलचाल में मिलते हैं, तथापि संस्कृत के दर्शन-ग्रंथों के अनुवाद आदि में उसी की परंपरा के अनुसार अपादान-परसर्ग का ही प्रयोग मिलता है। संस्कृत का उदाहरण—घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् पटवत् (तर्कसंग्रह); नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते। कुतः वैषम्यनैर्घृण्यप्रसंगात् (शांकरभाष्य)।

इनका हिंदी रूपांतर इस प्रकार होगा—'पट के समान प्रमेयत्व से अथवा के कारण घट अभिधेय है; 'ईश्वर जगत् का कारण नहीं हो सकता। क्यों? विषमता और निर्दयता से' (= के आ जाने से)।'

हमने संस्कृत के उपर्युक्त उदाहरणों का अनुवाद हिंदी में केवल अपादान का परसर्ग 'से' रखकर ही किया है। इस परसर्ग के स्थान पर 'के कारण' रखने से हिंदी का शिष्ट रूप सामने आएगा और ऐसा करना भी चाहिए। वस्तुतः बात यह है कि संस्कृत के दार्शनिक ग्रंथ प्रायः प्रश्नोत्तर रूप में लिखे गए हैं, और इसलिये उत्तर में चुस्ती वा लाघव के लिये यथाशक्ति कम शब्दों का प्रयोग किया गया है। पद-क्रम भी कथोपकथन की पद्धति पर ही है, और यही कारण है कि संस्कृत में पंचमी विभक्तियुक्त पद वाक्य के अंत में है।

§ (६०) कारणसूचक अपादान के ही अंतर्गत हम इसके एक विशिष्ट प्रयोग पर विचार करना चाहते हैं जो कारण सूचित करते हुए तुलना की व्यंजना करता है। ऐसा प्रयोग संस्कृत में प्राप्त होता है। ऐसे स्थलों की पंचमी का विकास शिष्ट हिंदी में अधिकरण-परसर्ग में हुआ है। जैसे—गांभीर्यात्सागरोपमः (रामायण)। इसका हिंदी-रूप होगा—'गांभीर्य से (के कारण) सागर के समान है।' अर्थात् 'गांभीर्य में सागर के समान है।' हिंदी में यदि हम इसे अधिकरण-परसर्ग में न रखकर अपादान-परसर्ग में ही रखें तो भी यह अर्थ अधिकरण-परसर्ग का ही देगा।

§ (६१) **तुलना-भिन्नतासूचक अपादान**—इस अपादान का सामान्य स्वरूप किसी वस्तु वा व्यक्ति की किसी वस्तु वा व्यक्ति से तुलना वा समता या भिन्नता व्यंजित करता है। प्रथम हम तुलना-

सूचक अपादान पर विचार करेंगे। जब हम किसी वस्तु वा व्यक्ति से किसी वस्तु वा व्यक्ति की तुलना करते हैं तब जिससे तुलना करते हैं उसके योग में अपादान-परसर्ग का प्रयोग होता है। 'तुलना' के अर्थ में गुरुता-लघुता तथा उच्चता-तुच्छता दोनों का समावेश है।

इस तुलनासूचक अपादान को हम तीन श्रेणियों में रख सकते हैं—(१) जब विशेषण के मूल रूप (पाजिटिव डिग्री) को दृष्टि में रखकर तुलना होती है, (२) जब विशेषण के उच्चतर रूप (काम्पैरेटिव डिग्री) को दृष्टि में रखकर तुलना होती है, (३) जब लघुता-गुरुता वा तुच्छता-उच्चता की व्यंजना होती है।

उदाहरण—(१) संस्कृत का उदाहरण—वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति (उत्तर-रामचरित); भार्या सर्वलोकादपि वल्लभा भवति (पंचतंत्र)। हिंदी का उदाहरण—कारन तें कारज कठिन (तुलसी); 'पत्नी सभी लोगों से प्यारी होती है।'

(२) संस्कृत का उदाहरण—नास्त्यन्यो धन्यतरो लोके मत्तस्त्व-त्तश्च (पंचतंत्र)। हिंदी में इसका रूप इस प्रकार का होगा 'संसार में मुझसे और तुमसे बढ़कर धन्य दूसरा नहीं है।'

हिंदी में तुलनासूचक अपादान के ऐसे स्थलों पर जिससे तुलना की जाती है उसके साथ संबंध कारक का परसर्ग लगाकर, इसके आगे 'अपेक्षा' शब्द रखकर विशेषण का उच्चतर रूप रखा जाता है। यह रूप केवल 'से' से अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उदाहरण—कर्म के मार्ग पर आनंदपूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अंतिम फल तक न भी पहुँचे तो भी उसकी दशा कर्म न करनेवाले की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी (चिंतामणि)।

(३) **संस्कृत का उदाहरण**—सेनाशतेभ्योऽधिका बुद्धिर्मम (मुद्राराक्षस); चैत्ररथादनूने वृंदावने (रघुवंश), अश्वमेध सहस्रेभ्यः सत्यमेवातिरिच्यते (हितोपदेश)। हिंदी का उदाहरण—मरने से जीना अच्छा है; राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो। राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो (विनयपत्रिका); परमात्म-सत्ता की भावना आत्म-सत्ता की भावना से बढ़कर है।

उदाहरण (२) की भाँति इसमें भी 'से' के स्थान पर संबंध कारक का परसर्ग तथा 'अपेक्षा' का प्रयोग हिंदी में प्रचलित है। जैसे, योग-मार्ग की अपेक्षा भक्ति-मार्ग सुगम है।

§ (६२) **भिन्नतासूचक अपादान**—इस अपादान से यह सूचित होता है कि अमुक वस्तु वा व्यक्ति अमुक वस्तु वा व्यक्ति से भिन्न है। प्रायः भिन्नतासूचक अन्य, इतर, अपर, भिन्न शब्द तथा इनके पर्यायवाची अन्य शब्दों के योग में इस अर्थ में पंचमी वा अपादान-परसर्ग का प्रयोग संस्कृत तथा हिंदी दोनों में प्रचलित है। संस्कृत का उदाहरण—(पंथा) इतरो देवयानात् (ऋग्वेद), जगन्मिथ्या भिन्नमभिन्नमीश्वरात् (प्रबोधचंद्रोदय)। हिंदी का उदाहरण—ये दोनों भाषा-परिवार पिछले सहस्रों वर्षों से एक दूसरे से अत्यंत भिन्न और पृथक् रहे हैं (भाषाविज्ञान); संस्कृत भाषा अरबी भाषा से अत्यंत भिन्न है (वही); कवि का वर्ण्य-विषय जगत् और जीवन से इतर वा अपर कोई वस्तु नहीं हो सकती।

§ (६३) इस अंक के अंतर्गत हम पंचमी के कुछ विशिष्ट प्रयोगों पर दृष्टिपात करेंगे।

(५) तुलनासूचक अर्थ में किसी वस्तु वा व्यक्ति को किसी वस्तु वा व्यक्ति से दूना, तिगुना, चौगुना आदि का बोध कराने के लिये संस्कृत में पंचमी का प्रयोग होता है। हिंदी में ऐसे स्थलों

पर अपादान तथा संबंध-परसर्ग का भी प्रयोग मिलता है। संस्कृत का उदाहरण—मूल्यात्पंचगुणो दंडः। हिंदी का उदाहरण—मगर तंखा डील-डौल में उनसे सवाए थे (गोदान); 'मूल्य का पँचगुना दंड' तथा 'उनके सवाए थे' का भी प्रयोग हिंदी में होता है, पर अपादान-परसर्ग का प्रयोग ही स्पष्ट है, क्योंकि ऐसे स्थलों पर संबंध-परसर्ग का प्रयोग भी परोक्षरूपेण अपादान-परसर्ग का ही अर्थ-बोध कराएगा।

(फ) संस्कृत में 'किसी के वा से अतिरिक्त दूसरा नहीं' का अर्थ-बोध कराने के लिये द्वितीया के साथ 'मुक्त्वा', 'वर्ज्य' (हिंदी 'छोड़कर') आदि के आगे 'अन्य' शब्द का प्रयोग करते हैं; और यह पंचमी का-सा अर्थ लक्षित कराता है। जैसे—त्वां मुक्त्वान्यो न ज्ञास्यति (पंचतंत्र); त्वद्वर्जमन्यो भर्ता मनस्यपि मे न भविष्यति (वही)। हिंदी में भी ठीक ऐसा ही प्रयोग प्रचलित है। यहाँ भी लोग कहते हैं—'यहाँ तुम्हें छोड़कर मेरा दूसरा कौन है!' हिंदी में ऐसे स्थलों पर संबंध-परसर्ग के साथ 'अतिरिक्त' और इसके आगे 'अन्य' शब्द का प्रयोग खूब चलता है। जैसे—'यहाँ तुम्हारे अतिरिक्त मेरा दूसरा कौन है।' हिंदी में संबंध-परसर्ग के साथ 'अतिरिक्त' तथा 'अन्य' का यह प्रयोग संस्कृत की पंचमी के साथ 'ऋते' तथा 'अन्य वा अन्यत्' से विकसित ज्ञात होता है। उदाहरण—विविक्तादृतेऽन्यच्छरणं नास्ति (विक्रमोर्वशीय)।

(ब) कुछ वस्तुओं वा व्यक्तियों में से कुछ वा किन्हीं को चुनने वा लेने, किसी बंद स्थान से कुछ लेने तथा किसी अन्य क्रिया के करने आदि के अर्थों में हिंदी में अधिकरण-परसर्ग के साथ अपादान-परसर्ग और कभी-कभी संबंध-परसर्ग तथा अधिकरण-परसर्ग दोनों के साथ अपादान-परसर्ग का प्रयोग होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपादान कारक के परसर्ग के अर्थ को

लेकर दुहरे और कभी-कभी तिहरे कारक-परसर्गों का भी प्रयोग मिलता है। संस्कृत में ऐसे स्थलों पर केवल पंचमी का ही प्रयोग होगा। उदाहरण—तुम इन आमों में से दो को चुन लो, या ले लो; रतन ने केस में से हार निकालकर वकील साहब को दिखलाया और बोली—इसके बारह सौ रुपए माँगते हैं (गबन); कोठरी में से बैठे बैठे, सामने के मौलसिरी के पेड़ पर बैठे हुए पक्षियों को चारा बाँटकर खाते हुए वह देख रहा था (तितली); इनमें में से पचीस रुपए ले लो; उस समय मालवीयजी मंच पर से बोल रहे थे; मैंने पूछा—कौन है, तो बोला, मैं हूँ हीरा, कोठे में से आग लेने आया था (गोदान); जब अँधियारा फीका होता है और चौके में से [illegible] के बासन माँजने की आवाज बिना सुने सुनाई पड़ती है (सुनीता); तब दहेरी ओकरा माथा पर सें गिर कै चूर-चूर हो गेलै (मैथिली—ग्रामीण हिंदी), ओकरा में सें किछु सरिपनि आइल (वही)।

तिहरे कारक-परसर्गों का प्रयोग बहुधा सर्वनाम के साथ होता है। यह कथोपकथन में ही प्राप्त है।

उपर्युक्त उदाहरणों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि ऐसे स्थलों पर अपादान-परसर्ग के साथ अधिकरण-परसर्ग के प्रयोग का भी कुछ कारण है। चुनना, लेना तथा अन्य किसी क्रिया का होना एक स्थान में वा पर स्थिर वा स्थित वस्तु से संबद्ध है; और हम जानते हैं कि 'में' और 'पर' अधिकरण कारक के द्योतक परसर्ग होते हैं। इस कारण तो अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग हुआ। अब रही अपादान-परसर्ग के प्रयोग की बात। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि कहीं वा किसी में से कुछ लेना वा निकालना करना तथा कहीं से किसी कार्य की गति के आरंभ में अपादान परसर्ग का प्रयोग होता है। इस प्रकार अपादान-परसर्गों के अर्थ से अधिकरण तथा अपादान-परसर्ग का सह-प्रयोग स्वाभाविक है।

(भ) निर्वाचन में किसी स्थान के वा के लिये प्रतिनिधि चुने जाने के लिये जब कोई खड़ा होता है तब स्थान के साथ अपादान-परसर्ग लगाया जाता है। जैसे—मगर अब की एक राजा साहब उसी इलाके से खड़े हो गए थे (गोदान)।

§ (६४) **कारक-परसर्ग-व्यत्यय**—(क) **अपादान-परसर्ग के स्थान पर करण-परसर्ग**—पथव्या एकरज्जेन सग्गस्स गमनेन वा। सब्बलोकाधिपच्चेन सोतापत्तिफलं वरं (धम्मपदं)।

(ख) **अपादान-परसर्ग के स्थान पर संबंध-परसर्ग**—जिहि हरि की चोरी करी, गए राम गुण भूलि। ते विधना बागुल रचे, रहे अरधि मुखि भूलि (कबीर ग्रंथावली); चंदनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी। एतेसं गंधजातानं सीलगंधो अनुउत्तरो (धम्मपदं); एक्के दुन्नय जे कया तेहिं नीहारिय घरस्स। बीजा दुन्नय जइ करउं तो न मिलउ पियरस्स (पुरानी हिंदी); क्या यदि तुम चुटकी काटो तो हम लोगों के रुधिर नहीं निकलता (दुर्लभ बंधु)।

यहाँ 'दुर्लभ बंधु' से उद्धृत उदाहरण को प्रांतीय समझना चाहिए। बनारसी बोली में ऐसे स्थलों पर कहेंगे—'ओनके खून निकलत हौ।'

(ग) **अपादान-परसर्ग के स्थान पर अधिकरण-परसर्ग**—दूरे संतो पकासें ति हिमवंतो' व पव्वता। असंते त्थ न दिस्संति रत्ति-खित्ता यथा सरा (धम्मपदं); अंबर कुंजां कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल। जिनि पैं गोविंद बीछुटे, तिनके कौण हवाल (कबीर ग्रंथावली); तू अलि ! कापै कहत बनाय (सूर); सारा गाँव इस कौड़े में आग लेने आता था (गोदान); ए सखि ! आजु की रैन को दुख कह्यो न मोपै परै (भ्रमरगीतसार); वहै जो एक बार ऊधो पै कछुक सोध सो पायो (वही); दियो सो सीस चढ़ाय लै,

आछी भाँति अएरि। जापै सुख चाहत लियो, ताके दुखहिं न फेरि (बिहारी बोधिनी)।

'सारा गाँव·········आता था' ऊपर के इस उदाहरण में 'लेना' क्रिया से अपादान-परसर्ग का प्रयोग अत्यंत स्पष्ट है। इसलिये यहाँ अपादान-परसर्ग के अर्थ में अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग ही मानना चाहिए। वास्तविक बात तो यह है कि यहाँ 'में' का प्रयोग दुहरे कारक-परसर्ग 'में से' के अर्थ में हुआ है, इसके विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं।

संबंध कारक

§ (६५) कारक पर विचार करते हुए हमने देखा है कि उसकी स्थिति के लिये नाम का आख्यात से अन्वय वा संबंध आवश्यक है,[१] बिना इनके संबंध के उसकी सत्ता मान्य न होगी। (देखिए § ७)।

कारक की इस परिभाषा पर दृष्टि रखकर जब हम संबंध कारक के स्वरूप पर विचार करते हैं तब ज्ञात होता है कि यह कारकों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इसमें नाम का संबंध आख्यात से नहीं होता, प्रत्युत नाम से होता है।

संस्कृत वैयाकरण यद्यपि संबंध को कारक नहीं मानते तथापि कुछ अन्य कारकों के प्रकरण में केवल सामान्य संबंध के बोधनार्थ उन्होंने संबंध पर विचार करने की आवश्यकता का अनुभव किया अवश्य। महामुनि पाणिनि ने 'षष्ठीशेषे'[२]—'षष्ठी का प्रयोग शेष स्थलों पर' कहकर उसकी चर्चा की है। महाभाष्यकार पतंजलि ने 'शेष' की व्याख्या करते हुए कहा—'कर्मादीनामविवक्षा शेषः' अर्थात् कर्मादि कारकों को जहाँ पूर्णरूपेण कहने की आवश्यकता न हो वहाँ केवल संबंध न बतलाने के लिये षष्ठी का प्रयोग होता है।

षष्ठी के विकास तथा उसकी व्यापकता के अवलोकन के लिये § ६ और § १० द्रष्टव्य हैं, यहाँ भी इनका उल्लेख अप्रयोजनीय होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि संबंध कारकों का सजातीय

---

१. क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्।

२. (अष्टाध्यायी, २।३।५०)।

नहीं है तथापि जब उसका प्रयोग अन्य कारकों की सत्ता (वा प्रयोग) स्पष्ट करने के लिये होने लगा तब वह उनकी जाति में घुल-मिल गया और स्वयं भी एक कारक के रूप में उपस्थित हुआ।

विनियोग की दृष्टि से संबंध कारक कितनी श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, यह निश्चित करना दुष्कर है, क्योंकि यह अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है; जैसे, स्वस्वामि संबंध, आनंतर्य, सामीप्य, समूह, विकार, अवयव-अवयवी संबंध, जन्य-जनक संबंध इत्यादि[1]। हम आगे हिंदी में इसके विनियोग के विकास की दृष्टि से कुछ विशिष्ट अर्थों में प्रयोग पर विचार करेंगे।

हिंदी में संबंध कारक का परसर्ग 'का' है, जो भेद्य के लिंग, वचन तथा कारक के अनुसार 'की' और 'के' में परिवर्त्तित हो जाता है।

§ (६६) **नामाश्रित संबंधवाचक**—इस संबंध कारक के अंतर्गत संस्कृत तथा हिंदी दोनों के विशेषतः तत्पुरुष समास तथा उसके विग्रहीत रूप आएँगे। संस्कृत में कभी-कभी भेदक नाम से व्युत्पन्न विशेषण ही षष्ठी का कार्य संपन्न कर देता है। संस्कृत का उदाहरण—(सामासिक रूप)—राजपुरुषः, सीतास्वयंवरः, शत्रुबलम्, मित्रागमनम्। (विग्रहीत रूप)—राज्ञः पुरुषः, सीतायाः स्वयंवरः, शत्रोर्बलम्, मित्रस्यागमनम्। (व्युत्पन्न रूप) शात्रवं बलम्।[2]

साहित्यारूढ़ हिंदी में प्रायः संस्कृत के समास ही प्रयुक्त होते हैं; इसलिये हम संस्कृत के उपर्युक्त उदाहरणों को हिंदी में इस प्रकार रखेंगे—राजपुरुष = राजा का पुरुष, सीतास्वयंवर = सीता का

१. बहवो हि षष्ठ्यर्थाः स्वस्वाम्यनंतर समीपसमूहविकारावयवाद्याः।
—काशिकावृत्ति।

२. संस्कृत में कुछ तत्पुरुष ऐसे हैं जो या तो सामासिक रूप में प्रयुक्त होते हैं या व्युत्पन्न रूप में, विग्रहीत रूप में कभी नहीं प्रयुक्त होते। जैसे—हैमपात्रं = हैमं पात्रं। 'हेम्नः पात्रं' के रूप में नहीं।

स्वयंवर, शत्रुबल = शत्रु का बल, मित्रागमन = मित्र का आगमन।

हिंदी में भेदक नाम से व्युत्पन्न विशेषण संबंध परसर्ग के रूप में केवल संस्कृतज्ञ लेखकों द्वारा और संस्कृत रूप में ही प्रयुक्त होते हैं।

संस्कृत तथा हिंदी दोनों के उदाहरणों के अवलोकन से ज्ञात होगा कि नामाश्रित संबंधवाचक में षष्ठी वा संबंध-परसर्ग का प्रयोग किसी न किसी रूप में भेद्य की विशेषता बतलाने के लिये ही होता है।

इसी संबंध कारक के अंतर्गत हम संस्कृत तथा हिंदी दोनों के एक विशिष्ट प्रयोग पर विचार करना चाहते हैं। संस्कृत में अभेद की व्यंजना के लिये षष्ठी का प्रयोग होता है[१]। जैसे, 'राहोः शिरः', 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्'। यहाँ 'शिर' कहने की क्या आवश्यकता थी, क्योंकि 'राहु' तो स्वयं 'शिर' है। ऐसे प्रयोग चलते तो हैं, पर बहुत कम। यदि हमें 'पुष्पपुर का नगर' कहना होगा तो 'पुष्पपुर' के साथ षष्ठी का प्रयोग न किया जायगा, केवल 'पुष्पपुरं नगरम्' ही कहा जायगा, 'पुष्पपुरस्य नगरम्' नहीं।

हिंदी में भी 'अभेदे षष्ठी' का प्रयोग प्रचलित है। अँगरेजी में इसका प्रयोग अधिक होता है[२], और हिंदी पर अँगरेजी के प्रभाव के कारण इसका प्रचार बढ़ गया है, विशेषतः कविता में। हिंदी में 'काशी नगरी' और 'काशी की नगरी' दोनों का प्रयोग होगा। और उदाहरण—जल-जल प्राणों के अलि उन्मन······करते स्पंदन, करते गुंजन (गुंजन); किंतु इस बड़े प्रयाग के नगर में और इस कुंभ के मेले में वह हरिप्रसन्न कहाँ मिलनेवाला है (सुनीता)।

---

१. अभेदे षष्ठी।

२. जैसे—दि सिटी आव् लंडन; दि सिटी आव् बनारस।

§ (६७) संस्कृत में किसी स्थान से कहीं जाने के अर्थ में जिस स्थान से और जिस स्थान को जाया जाता है, उसके साथ क्रमशः पंचमी और द्वितीया का प्रयोग होता है; जैसे, पुष्पपुरात् प्रवासनम्, पुष्पपुरं गमनम्; 'पुष्पपुरस्य प्रवासनम् वा गमनम्' प्रयुक्त न होगा। हिंदी में ऐसे स्थलों पर अपादान तथा कर्म के परसर्गों का प्रयोग बहुत कम होता है, संबंध के परसर्ग का प्रयोग ही विशेष प्रचलित है; यथा, मुझे कलकत्ते का जाना सहा नहीं; आजकल योरप का प्रवास संकटापन्न है। यहाँ 'कलकत्ते' के साथ कर्म के परसर्ग तथा 'योरप' के साथ अपादान के परसर्ग का प्रयोग नहीं हुआ। इसी प्रकार लोग हरिद्वार 'को' यात्रा करने नहीं जाते हरिद्वार 'की' यात्रा करने जाते हैं।

§ (६८) महामुनि पाणिनि ने कुछ नामों यथा, ईश्वर, स्वामी, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू और प्रसूत के साथ संबंध तथा अधिकरण दोनों की विभक्तियों का प्रयोग बतलाया है। हिंदी में इन संज्ञाओं के साथ प्रायः संबंध कारक के परसर्ग का ही प्रयोग होता है, यद्यपि संबंध-परसर्ग के अर्थ में अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग भी हो सकता है। उदाहरण—त्वमस्माकं स्वामी (कथासरित्सागर); स्वामी विषये—(वही); पृथिव्या सर्वविहारेषु कुलपतिरयं क्रियताम् (मृच्छकटिक)।

हिंदी में 'प्रांत में स्वामी' की अपेक्षा 'प्रांत का स्वामी' अधिक उपयुक्त ज्ञात होता है। इसी प्रकार 'उसे पृथ्वी के सभी विहारों में कुलपति बना दो' की अपेक्षा 'उसे पृथ्वी के सभी विहारों का कुलपति बना दो' कहना हिंदीवालों को अधिक अच्छा लगेगा।

यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि हिंदी में संबंध-परसर्ग तथा अधिकरण-परसर्ग के प्रयोग में विकल्प बहुत है। नित्य प्रति के व्यवहार की हिंदी तथा साहित्यारूढ़ हिंदी दोनों से ऐसे अत्यधिक

उदाहरण दिए जा सकते हैं। इनके उदाहरण हम कारक-परसर्ग-व्यत्यय में देखेंगे।

§ (६६) यह सभी पर विदित है कि संबंध कारक के परसर्ग से संबंध की व्यंजना होती है और इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। इससे किसी वस्तु वा व्यक्ति से किसी वस्तु वा व्यक्ति का किसी भी प्रकार का संबध व्यक्त किया जा सकता है। संबंध कई प्रकार का होता है, यथा, जन्य-जनक, गुण-गुणी, अवयवावयवी, कार्य-कारण, कर्तृ-कर्म आदि। संस्कृत तथा हिंदी दोनों में इन संबंधों के अर्थबोधनार्थ षष्ठी वा संबंध कारक के परसर्ग का प्रयोग होता है। जो वस्तु वा व्यक्ति किसी से संबद्ध होता है उस वस्तु वा व्यक्ति को प्रथमा वा अपरसर्ग कर्त्ता में रखते हैं और यह वाक्य का प्रायः विधेय होता है। हम समझते हैं कि इनका उदाहरण देना अनावश्यक विस्तार करना होगा। प्रयोग की दृष्टि से इसमें कोई विशेषता भी नहीं है।

§ (७०) कोई वस्तु वा व्यक्ति जब किसी वस्तु (वा गुण) वा व्यक्ति का धारणकर्त्ता होता है तब धारण का अर्थबोध कराने के लिये संस्कृत में षष्ठी का प्रयोग होता है। ऐसे स्थलों पर संस्कृत की षष्ठी का विकास हिंदी के संप्रदान-परसर्ग के रूप में हुआ है, पर यह विकास व्यापक नहीं है, प्रांतीय है; न्यायतः हिंदी में भी ऐसे स्थलों पर संबंध-परसर्ग का ही प्रयोग होना चाहिए, और होता भी है। उदाहरण—यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा (पंचतंत्र)। इस उदाहरण का हिंदी रूपांतर संबंध-परसर्ग के साथ होगा—'जिसके स्वयं बुद्धि नहीं है', पर बोलचाल में संप्रदान-परसर्ग का ही प्रयोग कर इसे इस प्रकार कहेंगे—'जिसको स्वयं बुद्धि नहीं है।' और उदाहरण—व्रजनाथ को (के) कोई संतान न थी; उसको (के) पुस्तक नहीं है, इत्यादि।

प्रायः यह देखा जाता है कि जब किसी वस्तु वा व्यक्ति में कोई गुण होता है तब 'को' का प्रयोग नहीं करते प्रत्युत संबंध-परसर्ग और अधिकतर अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग करते हैं; जैसे—चंपा तो मैं तीनु गुनु, रूप, रंग अरु बास। यहाँ 'तुमको' अमुक-अमुक गुण हैं न कहकर 'तुम में' वा 'तेरे' अमुक अमुक गुण हैं कहना अधिक उपयुक्त ज्ञात होता है।

यहीं प्रयोग के एक और वैशिष्ट्य का अवलोकन कर लेना चाहिए। और वह है ऐसे स्थलों पर गुणाधार के योग में दुहरे कारक-परसर्गों का (संबंध-परसर्ग के साथ अधिकरण-परसर्ग का) प्रयोग। यह प्रयोग बहुधा सर्वनाम के साथ तथा नित्य व्यवहार की भाषा में विशेष प्रचलित है। इस प्रयोग को प्रांतीय ही समझना चाहिए। उदाहरण—उनके में कोई विशेषता न मिली; शांतिनाथ के में तुम्हें कौन सा औदार्य दिखाई पड़ा कि उनकी ओर लपके।

बनारसी बोली में यह प्रयोग खूब चलता है। यथा, वा गुरू, तोहरो में बड़ा काइयाँपन बाय; अरे भैया आजकल झिलमिटओ के में छलावा क आदत होय गयल हौ।

§ (७१) संस्कृत में उपादान (वस्तु) वा व्यक्ति, जो कार्य वा जन्य का कारण होता है, षष्ठी विभक्ति में रखा जाता है। इसे कार्य-कारण वा जन्य-जनक-संबंधसूचक संबंध कारक ही समझना चाहिए, जिसकी चर्चा हमने § ६६ में की है। उदाहरण—अस्य सूत्रस्य शाटकं वय (पतंजलि); कन्या दशानाम् (महाभारत)। हिंदी में भी ऐसे स्थलों पर संस्कृत की परंपरा के अनुकूल ही प्रयोग होता है। यहाँ भी 'इस सूत का वस्त्र बिनो' और 'मछुए की लड़की' ही कहेंगे। इस संबंध कारक में षष्ठी का प्रयोग उत्पत्ति तथा कारण-सूचक अपादान की पंचमी के अर्थ में ही समझना चाहिए। (देखिए § ५६)।

§ (७२) **कर्माश्रित संबंध कारक**—संस्कृत में जब एक ही वाक्य में कर्त्ता और कर्म दोनों आते हैं, और कार्यबोधक क्रियार्थक संज्ञा भी उपस्थित रहती है तब प्रायः कर्त्ता के साथ तृतीया और कर्म के साथ षष्ठी का प्रयोग होता है[1]; यथा, आश्चर्यं गवां दोहोऽगोपेन (सिद्धांतकौमुदी)।

हिंदी में षष्ठी के प्रयोग की यह परंपरा संस्कृत से ज्यों की त्यों आई। परंतु यह यहाँ संबंध-परसर्ग के अर्थ में कर्म-परसर्ग के रूप में भी विकसित हुई। 'पैर से रोटी का खाना तो आपने न देखा होगा ?' तो बोला वा लिखा ही जाता है, 'पैर से रोटी को खाना' का भी प्रयोग होता है। यदि उक्त वाक्य का समभिव्याहार वा पद-क्रम कुछ परिवर्त्तित कर दिया जाय तो कर्म-परसर्ग का विकास कुछ स्पष्ट हो जायगा; यथा, 'रोटी को पैर से खाना तो आपने न देखा होगा ?'

कर्त्राश्रित संबंध कारक—संस्कृत में जब एक ही वाक्य में कर्त्ता और कर्म दोनों आते हैं और क्रियार्था संज्ञा स्त्रीलिंग अथवा किसी भी लिंग की होती है तब कर्त्ता तृतीया में तो रखा ही जाता है षष्ठी में भी रखा जा सकता है, कर्म षष्ठी में तो होगा ही[2]। ऐसे स्थलों पर हिंदी में कर्त्ता के साथ करण-परसर्ग के प्रयोग की अपेक्षा संबंध-परसर्ग का प्रयोग अधिक चलता है। इस प्रकार 'आश्चर्यं गवां दोहोऽगोपस्य' भी प्रयुक्त हो सकता है। और उदाहरण—विचित्रा जगतः कृतिर्हरेर्हरिणा वा (सिद्धांतकौमुदी); शब्दानामनुशासनमाचार्येण आचार्यस्य वा (वही)।

हमने ऊपर कहा है कि हिंदी में ऐसे स्थलों पर कर्त्ता के साथ करण-परसर्ग की अपेक्षा संबंध-परसर्ग का प्रयोग अत्यधिक होता है

१. उभय प्राप्तौ कर्मणि—(अष्टाध्यायी, २।३।६६)

२. शेषे विभाषा। स्त्री प्रत्यय इत्येके। केचिदविशेषण विभाषामिच्छति।

—वार्तिक।

और अच्छा भी लगता है। 'उनसे (वा उनके द्वारा) प्रयाग का जाना स्थगित हो गया' में 'उन' के साथ करण-परसर्ग 'से' का प्रयोग कानों को बहुत भद्दा लगता है। और इसके साथ जब संबंध-परसर्ग का प्रयोग हो जाता है तब वह मधुर और अधिक उपयुक्त ज्ञात होता है; जैसे, 'उनका प्रयाग का जाना स्थगित हो गया।'

§ (७३) **दिशासूचक संबंध कारक**—संस्कृत में उभयतः, सर्वतः उपर्युपरि, अधोधः, अध्यधि शब्द जब निकटत्व के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं तथा 'प्रति' शब्द जब हिंदी 'ऊपर' वा 'ओर' का अर्थबोध कराता है तब द्वितीया का प्रयोग किया जाता है[१]। ऐसे स्थलों पर संस्कृत की द्वितीया का विकास हिंदी के संबंध कारक के परसर्ग में हुआ है। संस्कृत का उदाहरण—उभयतः कृष्णं गोपाः (सिद्धांत-कौमुदी); सर्वतः कृष्णं गोपाः (वही); उपर्युपरि[२] लोकं हरिः (वही); अधोऽधो लोकं हरिः (वही); न मे संशीतिरस्या दिव्यतां प्रति (कादंबरी)। हिंदी का उदाहरण—चाणक्य आसन से उठ खड़े हुए, खड़े होकर उन्होंने सभा-मंडल में अपने चारों ओर देखा (चित्रलेखा); कृष्ण के दोनों ओर ग्वालिनें हैं; पक्षी घास के ऊपर-ऊपर[२] सर्राटे भरते उड़ रहे थे; और उसके संमुख होते ही लोगों में उसके प्रति भक्ति भाव उमड़ पड़ता था (वही), गोविंदी के प्रति उनका क्रोध प्रचंड हो जाता था (गोदान)।

संस्कृत में उपर्युक्त शब्दों के अद्विरुक्त (=अकेले) रूप के साथ तथा दिशासूचक अन्य शब्द यथा, पश्चात्, अग्रे आदि के साथ, जिससे (जिस वस्तु वा व्यक्ति से) दिशा सूचित करनी होती है,

---

१. उभसर्वतसोः कार्याधिगुपर्यादिषु त्रिषु। द्वितीयाम्रेडितांतेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते।—(वही)।

२. शब्दों की द्विरुक्ति से कभी कभी निकटत्व का भी बोध होता है। यहाँ 'उपरि' वा 'ऊपर' की द्विरुक्ति इसी अर्थ में समझनी चाहिए।

षष्ठी विभक्ति लगाते हैं, द्वितीया नहीं।[१] ऐसे स्थलों पर हिंदी में भी संस्कृत की भाँति ही प्रयोग प्रचलित है। संस्कृत का उदाहरण—गतमुपरि घनानां (अभिज्ञान शाकुंतल); तरूणामधः (वही); तिष्ठन् भाति पितुः परो भुवि यथा (नागानंद)। हिंदी का उदाहरण—कहो कौन हो दमयंती-सी तुम तरु के नीचे सोई ? हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई ? (पल्लव); घने प्रेम-तरु-तले (स्कंदगुप्त); 'तो इस काया पर नहीं मुझे कुछ माया। सड़ जाय पड़ी यह इसी उटज के आगे, मिल जायँ तुम्हीं में प्राण आर्त्त अनुरागे' (साकेत); 'बादलों के ऊपर जाते हुए।'

'ऊपर', 'नीचे', 'आगे', 'पीछे' आदि शब्दों का प्रयोग लक्षित अर्थों में भी होता है। जैसे, "तूने तो सहधर्मचारिणी के भी ऊपर धर्मस्थापन किया भाग्यशालिनि, इस भू पर (वही)।

संस्कृत में दिशासूचक 'एनांत' शब्द यथा, 'दक्षिणेन', 'उत्तरेण' इत्यादि के साथ स्थानवाचक वे शब्द, जिनसे दिशा सूचित करनी होती है, षष्ठी तथा द्वितीया की आकांक्षा रखते हैं।[२] हिंदी में संस्कृत के प्रयोग की यह परंपरा प्राप्त है, पर केवल षष्ठी की ही, द्वितीया की नहीं। संस्कृत का उदाहरण—दक्षिणेन तु श्वेतस्य निषधस्योत्तरेण तु (महाभारत), दक्षिणेन वृक्षवाटिकां (अभिज्ञान शाकुंतल)। हिंदी का उदाहरण—ये **कंठ-पिटक के पिछले भाग से** आड़े आकर **सामने के किनारे से** जरा नीचे इस तरह से जुड़ जाते हैं कि श्वास नलिका को दोनों तरफ से घेरे रहते हैं। (भाषाविज्ञान)।

संस्कृत में दूरत्व तथा निकटत्वसूचक शब्द पंचमी तथा षष्ठी की

१. षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन (अष्टाध्यायी, २।३।३०)।

२. एनया द्वितीया (वही)।

आकांक्षा रखते हैं।[१] ऐसे स्थलों पर हिंदी में भी अपादान तथा संबंध के परसर्गों का प्रयोग प्राप्त है। उदाहरण—ग्रामात् ग्रामस्य वा वनं दूरं--निकटं--समीपं इत्यादि (सिद्धांतकौमुदी)। हिंदी का उदाहरण—काशी नगर से सारनाथ दूर है, चुनार रामनगर से वा के निकट है।

हिंदी में 'दूर' के साथ संबंध-परसर्ग का प्रयोग कर्ण-मधुर नहीं लगता, और इसके साथ प्रायः अपादान-परसर्ग का प्रयोग मिलता भी है। 'काशी नगर के सारनाथ दूर है' ऐसा प्रयोग नहीं प्राप्त होता है; अपादान-परसर्ग का प्रयोग ही प्राप्त है। 'दूर' से 'अलगाव' सूचित भी होता है।

'निकट' के साथ अपादान तथा संबंध दोनों के परसर्गों का प्रयोग मिलता है, और भद्दा भी नहीं लगता। 'चुनार रामनगर से वा के निकट है' में अपादान-परसर्ग के द्वारा अल्प दूरता=निकटता सूचित होती है और संबंध-परसर्ग से तो निकटता सूचित होती ही है। इस प्रकार 'निकट' के अर्थ में दोनों कारक-परसर्गों का प्रयोग उपयुक्त लगता है।

§ (७४) **अवयवावयविभावाश्रित संबंध कारक**—इस संबंध कारक का सामान्य स्वरूप है किसी संपूर्ण व्यक्ति वा वस्तु-समूह के कुछ अवयवों (वा भागों) के विषय में कथन वा इसमें से कुछ अवयवों का ग्रहण। इस प्रकार इस संबंध कारक के दो रूप हमारे संमुख उपस्थित होते हैं—(क) प्रथम रूप वह जिसके द्वारा अवयव के विषय में कथन का बोध होता है और (ख) द्वितीय वह जिसके द्वारा अवयव के ग्रहण का बोध होता है।

---

१. दूरांतिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् (वही)।

(क) इस रूप का प्रयोग संस्कृत तथा हिंदी दोनों में समान होता है। हिंदी में आकर इसमें कोई विशेषता नहीं आई। संस्कृत का उदाहरण—अंबर तलस्य मध्यम् (कादंबरी); अयुतं शरदां ययौ (रघुवंश)। हिंदी का उदाहरण—वंग भाषा के काव्य-क्षेत्र के तो एक कोने ही में इस रहस्यवाद या छायावाद की तंत्री बजी—(काव्य में रहस्यवाद); वे कई सहस्र वर्षों से कम-से-कम भारतीय जनता की कल्पना के अंग और भावों के विषय रहते आए हैं (वही)।

(ख) इस रूप का अर्थ बोध कराने के लिये संस्कृत में षष्ठी तथा सप्तमी दोनों का प्रयोग मिलता है। हिंदी में ऐसे स्थलों पर संबंध-परसर्ग का प्रयोग अत्यल्प तथा अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग ही अत्यधिक होता है। संस्कृत का उदाहरण—श्रेष्ठं स्वानाम् (ऐतरेय ब्राह्मण); धुर्यो धनवताम् (कथासरित्सागर); स एवैकोऽत्र सर्वेषां नीतिशास्त्रार्थतत्त्वविद् (पंचतंत्र); दृष्टा पुरी युष्मासु केनचित् (कथासरित्सागर)। 'श्रेष्ठं स्वानाम्' तथा 'धुर्यो धनवताम्' का हिंदी-रूपांतर 'स्वजनों में श्रेष्ठ' तथा 'धनियों में प्रमुख' अधिक सुष्ठु ज्ञात होता है। ऐसे स्थलों पर यहाँ अधिकरण-परसर्ग का प्रचलन भी विशेष है। अन्य उदाहरण—रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई (रामचरितमानस)।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि चाहे संबंध-परसर्ग का प्रयोग करें चाहे अधिकरण-परसर्ग का अर्थ में कोई वैभिन्न्य उपस्थित नहीं होता। उदाहरणों से यह भी ज्ञात होता है कि ये निर्धारण षष्ठी तथा सप्तमी के समान ही हैं।

(ख) में यदि 'ग्रहण' करने का अभिधेयार्थ ही लिया जाय तो यही पंचमी वा अपादान-परसर्ग प्रयुक्त होगा। (देखिए § ६३ ब)।

संस्कृत में दो वस्तुओं में से एक को चुनने का अर्थ व्यक्त करने के लिये दोनों वस्तुओं के साथ कभी षष्ठी और कभी पंचमी का प्रयोग होता है। कभी तो इन्हें प्रथमा में ही रख देते हैं। हिंदी में इन कारक-विभक्तियों के स्थान पर कहीं अपादान-परसर्ग के अर्थ में दुहरे कारक-परसर्ग 'में से' का और कहीं अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग उपयुक्त ज्ञात होता है। (देखिए § ६३ ब)। संस्कृत का उदाहरण (१) व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते; (२) दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम् (मृच्छकटिक); (३) ब्रह्म वध्यात्मवध्या वा श्रेयमात्मवधो मम।

(१) हिंदी में 'व्यसन का और मृत्यु का व्यसन कष्टतर कहा गया है' न कहकर 'व्यसन में और मृत्यु में व्यसन कष्टतर कहा गया है' ही उपयुक्त ज्ञात होता है। यहाँ अपादान के परसर्ग के अर्थ में अधिकरण के परसर्ग का प्रयोग समझना चाहिए।

(२) 'मुझे दरिद्रता से वा मरण से मरण अच्छा लगता है, दरिद्रता नहीं' की अपेक्षा 'मुझे दरिद्रता वा मरण में से मरण अच्छा लगता है, दरिद्रता नहीं' हिंदी की रचना-पद्धति के अनुसार विशेष उपयुक्त है। यहाँ अपादान-परसर्ग के अर्थ में दुहरे कारक-परसर्ग 'में से' का प्रयोग हुआ है।

(३) इसका हिंदी-रूपांतर इस प्रकार होगा—'मेरे लिये ब्राह्मण-वध तथा आत्मवध में आत्मवध श्रेयस्कर है।' यहाँ केवल प्रथमा में इनको रखना हिंदी-रचना-पद्धति के अनुसार किसी प्रकार भी युक्ति-संगत नहीं है।

§ (७५) संस्कृत में 'बार' (एक बार, दो बार, चार बार, इत्यादि) व्यक्त करने के लिये 'समय' के साथ षष्ठी का प्रयोग सप्तमी के अर्थ में होता है।[१] हिंदी में ऐसे स्थलों पर शुद्ध अधिकरण

१- कृत्वोऽर्थ प्रयोगे कालेऽधिकरणे (अष्टाध्यायी, २ । ३ । ६४)।

कारक का परसर्ग प्रयुक्त होता है। संस्कृत का उदाहरण—द्विरह्नो भोजनं (सिद्धांतकौमुदी); शतकृत्वस्तवैकस्याः स्मरत्यह्नो रघूत्तमः (भट्टिकाव्य)। हिंदी का उदाहरण—खाने को दिन में चार बार चाहिए और काम करने को रत्ती भर भी नहीं; हाँ, वहाँ वर्ष में दो बार परीक्षा होती थी।

'दिन भर में चार बार' और 'वर्ष भर में दो बार' का भी प्रयोग मिलता है, पर प्रायः बोलचाल में।

§ (७६) इस अंक के अंतर्गत हम संस्कृत की कुछ क्रियाओं के साथ संबंध कारक के प्रयोग का हिंदी में विकास पर विचार करेंगे।

(१) संस्कृत में 'प्र' उपसर्ग के साथ 'भू' धातु तथा इसके पर्यायवाची अन्य धातु 'अधिकार करना-होना' के अर्थ में संबंध कारक की आकांक्षा रखते हैं। हिंदी में इस धातु के समानार्थक धातुओं के साथ अधिकरण का प्रयोग होता है। उदाहरण—ननु प्रभवत्यार्यः शिष्य जनस्य (मालविकाग्निमित्र)। हिंदी में उपर्युक्त उदाहरण का रूप इस प्रकार होगा—'निश्चय ही आर्य का शिष्यों पर प्रभाव है।' यदि 'शिष्यों का प्रभाव है' कहा जाय तो अर्थ सर्वथा विपरीत हो जायगा। और उदाहरण—यही गाय तीन साल पहले आई होती, तो सभी का उसपर बराबर अधिकार होता (गोदान)। 'प्रभू' का अर्थ जब 'पर्याप्त होना वा बनना' लिया जाता है तब इसके साथ संप्रदान का प्रयोग भी किया जाता है। (देखिए § ३६)।

(२) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में 'स्मृ' तथा 'अनुकृ' धातुओं (हिंदी—क्रमशः स्मरण करना, अनुकरण करना) के कर्म संबंध तथा कर्मकारक की आकांक्षा रखते हैं। उदाहरण—हा देवनंद स्मरति ते राक्षसः प्रसादानाम् (मुद्राराक्षस); भीमस्यानुकरिष्यामि बाहुः शस्त्रं (मृच्छकटिक); सर्वाभिरन्याभिः कलाभिरनुचकार तं

वैशंपायनः (कादंबरी); स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
(अभिज्ञान शाकुंतल)। हिंदी का उदाहरण—किसी कृतिकार को
उसकी कृतियों के माध्यम से स्मरण करना अति सुगम हो जाता है;
वे तुम्हारा स्मरण करते रहे; जब तक कवि आप ही गाकर अपनी
लय का ठीक ठीक पता न देगा तब तक पाठक अपने मन में उसका
ठीक-ठीक अनुसरण न कर सकेगा (काव्य में रहस्यवाद); हम
अपने बड़ों का (वा को) अनुकरण करते हैं।

'अनुकरण करना' के योग में भी केवल संबंध का प्रयोग ही
विशेष उपयुक्त ज्ञात होता है। इसके साथ कर्म के प्रयोग से अँगरेजी
की कुछ गंध आती है; जैसे—वी कापी अवर एल्डर्स।

संस्कृत तथा हिंदी दोनों में 'स्मरण करना' के योग में हमने
संबंध तथा कर्म दोनों का प्रयोग ऊपर देखा है। 'विस्मृ' (भूलना)
के साथ दोनों भाषाओं में केवल एक ही कारक—कर्म प्रयुक्त होता है।

(३) संस्कृत में 'दय्' (हिंदी 'दया करना') धातु संबंध तथा
कर्म कारक की आकांक्षा रखता है। ऐसे स्थलों पर संस्कृत के संबंध
तथा कर्म का विकास हिंदी में अधिकरण के रूप में हुआ है। उदा-
हरण—एते भद्रमुखास्तव दयंताम् (दशकुमारचरित)। हिंदी का
उदाहरण—इस अभागिनी पर दया करो नाथ!

बनारसी बोली में इस क्रिया के साथ प्रायः दुहरे कारक (संबंध
के साथ अधिकरण) का प्रयोग प्रचलित है, पर बहुधा सर्वनाम के
ही योग में। जैसे—ओकरे पर दया करऽ भाई; ओनके पर नाहीं त
हमरे पर त दया करऽ।

§ (७७) संस्कृत में 'पूर्', 'तृप्', 'तुष्', (हिंदी—भरना, पूरा
होना, तृप्त होना, प्रसन्न होना) धातु प्रायः संबंध की आकांक्षा
रखते हैं; पर इनके साथ प्रायः करण ही प्रयुक्त होता है। हिंदी में
इन कियाओं के योग में केवल करण का प्रयोग प्रचलित है।

संस्कृत का उदाहरण—वक्त्रमापूर्यतेऽश्रूणाम्, नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः। नांतकः सर्वभूतानाम् (पंचतंत्र); तुष्टस्तवाहम् (वही)। हिंदी का उदाहरण—सर से आँचल खिसका है,—धूल भरा जूड़ा,—अधखुला वक्ष,—ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा (ग्राम्या); काम से काम की तृप्ति नहीं होती; 'मैं तुमसे प्रसन्न हूँ।'

§(७८) संस्कृत में 'व्यपहृ', 'पण', 'दिव्' (व्यवहार करना, बाजी लगाना, जुआ खेलना) धातुओं के कर्म संबंध तथा कर्म कारक की विभक्तियों की आकांक्षा रखते हैं[1]। ऐसे स्थलों पर हिंदी में भी प्रायः संबंध-परसर्ग का ही प्रयोग होता है। उदाहरण—शतस्य व्यवहरति वा पणते वा दीव्यति वा। पणस्व कृष्णां पांचाली (महाभारत)।

यदि हिंदी में उपर्युक्त उदाहरणों को रखना हो तो इस प्रकार रखेंगे—सैकड़े (वा सैकड़ों) का व्यवहार करता है, सैकड़े की बाजी लगाता है, सैकड़े का जुआ खेलता है।

इन उदाहरणों को देखने से ज्ञात होगा कि इनमें 'का', 'की' धातु से संबंध नहीं रखते, संयुक्त क्रिया के अवयव से संबंध रखते हैं।

हिंदी में 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग व्यापार में प्रायः महाजनों (व्याजखोरों) के साथ तथा 'फेरफार' का प्रयोग व्यापारियों के साथ होता है; कन्नूमल लाखों का व्यवहार करते हैं, खूबचंद बबूना के यहाँ करोड़ों का फेरफार होता है।

'जुआ खेलने' के साथ हिंदी में करण का प्रयोग भी चलता है; जैसे, वह चार-पाँच सौ से जुआ खेल गया और दो-चार सौ के नफे में रहा।

संस्कृत में 'दिव्' के साथ जब उपसर्ग 'प्रति' लगा देते हैं तब

---

१. व्यवहृपणोः समर्थयोः (अष्टाध्यायी २।३।५७)।
दिवस्तदर्थस्य (वही, २।३।५८)

इसके योग में संबंध वा कर्म दोनों का प्रयोग हो सकता है[१]—शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति (सिद्धांतकौमुदी)।

§ (७६) संस्कृत में योग्यताबोधक कर्मवाच्य कृदंत (पोटेंशल पैसिव पार्टिसिपुल) में कर्म के कर्त्ता के साथ षष्ठी तथा तृतीया दोनों कारक-विभक्तियों का प्रयोग होता है[२]। यहाँ तृतीया का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त ज्ञात होता है; और षष्ठी का प्रयोग भी तृतीया के ही अर्थ में समझना चाहिए। संस्कृत के प्रयोग की यह परंपरा हिंदी में ज्यों की त्यों आई है। संस्कृत का उदाहरण—नास्ति असाध्यं नाम मनोभुवः (कादंबरी); न वयमनुग्राह्याः प्रायो देवतानां (वही)। हिंदी का उदाहरण—समाज के कृष्ण-पक्ष का वर्णन कवि का त्याज्य विषय होना चाहिए; कृतिकार की व्यर्थ प्रशंसा आलोचक का अवहेलनीय कर्म है; यह कर्म तुम्हारे द्वारा (तुमसे) कर्त्तव्य है।

'कवि का त्याज्य विषय' तथा 'आलोचक का अवहेलनीय कर्म' से यही व्यंजना होती है कि 'कवि द्वारा त्याज्य विषय' तथा 'आलोचक द्वारा अवहेलनीय कर्म।'

§ (८०) संस्कृत में 'तांत' (निष्ठा = भूतकालिक कृदंत) यदि वर्त्तमान काल का अर्थ-बोध कराता है तो कर्त्ता के साथ षष्ठी प्रयुक्त होती है, तृतीया नहीं[३]। और जब यह भूतकाल का बोधक होता है तब तृतीया का प्रयोग होता है। हिंदी में भी प्रयोग की यह परंपरा ज्यों की त्यों विद्यमान है। यहाँ आकर इसमें कोई विकास उपस्थित नहीं हुआ। उदाहरण—विदितं तप्यमानं च तेन मे भुवनत्रयं (रघुवंश); न खलु विदितास्ते चाणक्य हतकेन (मुद्राराक्षस)।

१. विभाषोपसर्गे (वही, २।३।५९)।
२. कृत्यानां कर्तरि वा (वही, २।३।७१)।
३. क्तस्य च वर्त्तमाने (वही, २।३।६७)

संस्कृत के उपर्युक्त उदाहरणों को यदि हम हिंदी रूप दें तो वह इस प्रकार का होगा—'यह मेरा जाना हुआ है कि तीनों लोक उससे तपाया जा रहा है'; 'क्या वे पाजी चाणक्य से जान तो नहीं लिए गए।' उदाहरणों से ज्ञात होगा कि वर्त्तमान काल के अर्थ में प्रयुक्त निष्ठा के साथ संबंध-परसर्ग का प्रयोग भी करण-परसर्ग की ही व्यंजना करता है। भूतकाल में कर्त्ता के साथ संबंध-परसर्ग का प्रयोग भद्दा लगेगा। यदि हिंदी में निष्ठांत शब्द तत्सम रूप में ही रखे जायँ तो कर्त्ता के साथ संप्रदान-परसर्ग का प्रयोग होगा; जैसे, 'मुझको विदित है कि.........'; 'क्या वे पाजी चाणक्य को विदित न हए।' परंतु, हिंदी में 'विदित' निष्ठांत के रूप में प्रयुक्त न होकर सामान्य 'क्रिया' के रूप में प्रयुक्त होता है। जैसे, 'विदित होना वा करना' का अर्थ होगा 'मालूम होना वा करना।' यहाँ यह क्रिया की भाँति प्रयुक्त है।

§ (८१) **निश्चयबोधक संबंध कारक**—संबंध कारक के इस भेद में क्रियार्थी संज्ञा के पश्चात् संबंध कारक का परसर्ग लगाया जाता है और इसके द्वारा निश्चितत्व का बोध होता है। आगे के उदाहरणों से यह बात ज्ञात होगी कि हिंदी में ऐसे संबंध-परसर्ग के प्रयोग का उपज्ञात (मौलिक) विकास हुआ है, हिंदी वाक्य-विन्यास की यह अपनी विशेषता है। उदाहरण—ठीक, वहाँ तक बिना पहुँचे श्यामलाल उतरने के नहीं (तितली); तो मैं तो उससे विचार नहीं करने की (विद्यासुंदर); धनिया के जीते जी यह नहीं होने का (गोदान); बस जितने बड़े लोग आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों की त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न दे, यह नहीं होने का (रानी केतकी की कहानी); मैं तो हाथ नहीं छोड़ने की (चंद्रावली नाटिका)।

यह प्रयोग साहित्य में तो चलता ही है, बोलचाल में इसका प्रचार अत्यधिक है; इस प्रचार का कारण इस प्रयोग में लाघव (चुस्ती)

की स्थिति ही समझना चाहिए। उपर्युक्त उदाहरणों को देखने से हमें इस प्रयोग में तीन वैशिष्ट्य लक्षित होते हैं—

पहला तो यह कि इसका प्रयोग प्रायः नकारात्मक अवस्था में ही होता है। 'मैं जाने का हूँ' का प्रयोग नहीं प्राप्त होता। इस स्थिति में क्रियार्थासंज्ञा के आगे संप्रदान परसर्ग का प्रयोग चलता है—'मैं जाने को हूँ', 'मैं जाने को था।'

दूसरा यह कि यह वर्तमान काल में प्रयुक्त होकर भी आसन्न-भविष्यत् काल का अर्थबोध कराता है। यथा, 'मैं जाने का नहीं'; इसके द्वारा यह व्यंजित होता है कि 'मैं जाऊँगा नहीं।'

तीसरा यह कि इसके द्वारा क्रिया-कर्तृभाव संबंध की व्यंजना होती है। 'मैं जाने का नहीं' का तात्पर्य यह है कि 'गमन क्रिया (नाम रूप में) का संबंध मुझसे नहीं है।'

§ (८२) संस्कृत में 'कारण', 'निमित्त', 'हेतु' के साथ षष्ठी का प्रयोग होता है[१]। यहाँ एक विशिष्ट बात यह लक्षित होती है कि करणसूचक ये शब्द जिस नाम (सर्वनाम, विशेषण) के साथ लगाए जाते हैं वह भी षष्ठी में रखा जाता है और ये ('कारण' आदि) तो षष्ठी में होते ही हैं। इस प्रकार इनका प्रयोग विशेषण के रूप में होता है। उदाहरण—अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् (रघुवंश); विस्मृतं कस्य हेतोः (मुद्राराक्षस)।

संस्कृत में कारणसूचक इन शब्दों के योग में तृतीया तथा पंचमी का प्रयोग भी प्रचलित है; यहाँ भी इनका प्रयोग विशेषण के रूप में ही होता है। यथा, केन निमित्तेन-कारणेन-हेतुना तथा कस्मान्निमित्तात्-कारणात्-हेतोः।

हिंदी में कारणसूचक ये शब्द जिस नाम के साथ रहते हैं उसके योग में संबंध-परसर्ग तथा इनके (कारणसूचक शब्दों के) योग में

१. षष्ठी हेतुप्रयोगे —(वही, २।३।२६)।

करणार्थक वा अपादानार्थक परसर्ग का प्रयोग प्रचलित है। इस प्रकार ऐसे स्थलों पर हिंदी के परसर्ग ने परंपराप्राप्त षष्ठी तथा तृतीया वा पंचमी दोनों से अपना विकास किया। उदाहरण—मैं वही हूँ जिसके कारण से आप सरीखे सज्जनों को यह दुःख हुआ (तप्तासंवरण); उसपर विपत्ति यह थी कि रुक्मिन भी अब किसी कारण से उतनी पति-परायणा, उतनी सेवाशील, उतनी तत्पर न थी (अग्निसमाधि और अन्य कहानियाँ)।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह विदित होगा कि 'कारण' शब्द के पूर्व संबंध-परसर्ग है और उसके साथ करण वा अपादान-परसर्ग। कभी-कभी परसर्ग 'से' का लोप भी कर देते हैं।

§ (८३) संस्कृत में आयुष्यं, मद्रं, भद्रं, कुशलं, सुखं, अर्थः और हितं शब्द चतुर्थी तथा षष्ठी दोनों कारक-विभक्तियों की आकांक्षा रखते हैं[1]। हिंदी में इन शब्दों में से प्रायः 'कुशल', 'हित' तथा इनके पर्यायवाची अन्य शब्द ही आते हैं और इनके साथ उपर्युक्त दोनों कारक-परसर्गों का प्रचलन है। उदाहरण के लिये देखिए § ३८ (अ)।

§ (८४) इस अंक के अंतर्गत हम विशेषतः निपातों के तथा अन्य शब्दों के साथ भी संबंध-परसर्ग के प्रयोग के विकास पर कुछ विचार करेंगे।

(य) संस्कृत में नामों के साथ जब सहसूचक निपात सह, समं, सार्धं, साकं आदि लगते हैं तब नामों के योग में तृतीया का प्रयोग होता है[2]। संस्कृत के ऐसे स्थलों की तृतीया का विकास हिंदी के संबंध-परसर्ग के रूप में हुआ है। हिंदी में सहसूचक के अर्थ में प्रायः

---

१. चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्र कुशलसुखार्थ हितैः —(वही २।३।७३)

२. सहयुक्तेऽप्रधाने—(वही, २।३।१९)

साथ, संग, समेत, सहित आदि का प्रयोग होता है। संस्कृत का उदाहरण—अपि म्रियते चारुदत्तः सह वसंतसेनया (मृच्छकटिक); स ताभ्यां व्यचरत्सार्धं भार्याभ्यां राजसत्तमः। कुंत्या माद्र्या च राजेंद्र (महाभारत); चारणैर्वंदिभिर्नीचैर्नापितैर्बालकैरपि। न मंत्र मतिमान् कुर्यात्सार्धम् (पंचतंत्र) इत्यादि। हिंदी का उदाहरण—केलिभवन में नगर की सर्वसुंदरी नर्तकी के साथ सामंत बीजगुप्त यौवन की उमंग में निमग्न था, और बाहर गहरे अंधकार में सारा विश्व (चित्रलेखा); धनुर्वाण या वेणु लो श्याम-रूप के संग, मुझपर चढ़ने से रहा राम! दूसरा रंग (द्वापर); जो कहानियाँ कोई मार्मिक परिस्थिति लक्ष्य में रखकर चलेंगी उनमें बाह्य प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप-रंगों के सहित और परिस्थितियों का विशद चित्रण भी बराबर मिलेगा (हिंदी-साहित्य का इतिहास)।

विशेषत: वैदिक संस्कृत में और लौकिक संस्कृत में भी इन निपातों का अर्थबोध बिना इनके प्रयोग के केवल तृतीया द्वारा व्यक्त किया जाता है। हिंदी में ऐसे स्थलों पर भी सहसूचक निपातों के साथ संबंध-परसर्ग का प्रयोग होगा। उदाहरण—देवो देवेभिरागमत् (ऋग्वेद); अश्नुते प्रजयाऽन्नाद्यम् (ऐतरेय ब्राह्मण); साहं त्वया गमिष्यामि वनम् (रामायण); न ताभिर्मंत्रयेत्सुधीः (पंचतंत्र)।

हिंदी में 'देवताओं से देवता आएँ', तथा 'वह मैं तुमसे बन जाऊँगी' न होगा, प्रत्युत नाम के साथ संबंध-परसर्ग लगाकर उसके आगे 'साथ' आदि निपात लगाए जायँगे—'देवताओं के साथ देवता आएँ', 'वह मैं तुम्हारे संग बन जाऊँगी।'

किसी-किसी बोली में संस्कृत के (विशेषतः वैदिक संस्कृत के) प्रयोग की यह परंपरा प्राप्त होती है। जैसे बनारसी बोली में संस्कृत की भाँति केवल करण-परसर्ग के द्वारा ही 'के साथ' की व्यंजना हो जाती है, संबंध कारक के परसर्ग के साथ सहसूचक निपात नहीं

लगाना पड़ता। उदाहरण—दुइ अदमी से बरात ले के अइलन तौने पर मँड़वा क हिलाई विन्नी चाही! धन्नू महाराज से कह दिए, नाटी इमली पर अपने गोल-मुँदरी से मिलिहन हम लगावे के तैयार हई! अदमी से = आदमी के साथ, गोल-मुँदरी से=गोल-मंडली के साथ (वा सहित)।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि बनारसी बोली का यह प्रयोग सीमित है, सभी स्थलों पर प्रचलित नहीं है, केवल समूहवाचक नाम के साथ ही प्रयोग की यह परंपरा मिलती है।

(र) संस्कृत में जिस प्रकार कृदंत 'सहितः' तथा 'युक्तः' के साथ आए नामों के साथ तृतीया का प्रयोग होता है उसी प्रकार इनसे विपरीत अर्थबोधक 'रहितः' तथा 'वियुक्तः' के साथ आनेवाले नामों के साथ भी तृतीया का ही प्रयोग करते हैं, यद्यपि कहीं कहीं पंचमी का भी प्रयोग प्राप्त है, जो उपयुक्त तथा युक्तिसंगत भी जान पड़ता है। 'रहितः' तथा 'वियुक्तः' बिलगाव का अर्थ सूचित करते हुए भी साहित्यसूचक तृतीया की आकांक्षा क्यों रखते हैं, इसका भी कारण है, और वह कारण यह है कि भावविभक्ति और अभावविभक्ति दोनों में एकता होती है। हिंदी में ऐसे स्थलों पर अपादान-परसर्ग का प्रयोग ही प्राप्त होता है। संस्कृत का उदाहरण—प्राणैर्न वियुक्तः (पंचतंत्र); तुषैरखंडैस्तंडुलान्पृथक् चकार—(दशकुमारचरित)। हिंदी का उदाहरण—और फूले हुए अर्जुन के वृक्षों से युक्त तथा केतकी से सुगंधित शैल ऐसा लगता है जैसे शत्रु से रहित होकर सुग्रीव अभिषेक की जलधारा से सींचा जाता हो (रामचंद्र शुक्ल)।

(ल) संस्कृत में तुल्यतावाचक तुल्य, सदृश, सम, संकाश आदि (तुल्यतास्थापक) जिन प्रतियोगी नामों के साथ आते हैं उनके योग में तृतीया तथा षष्ठी दोनों का प्रयोग होता है[१]। हिंदी में ऐसे

१. तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्—(वही, २।३।७२)।

स्थलों पर केवल संबंध-परसर्ग का ही प्रयोग चलता है। संस्कृत का उदाहरण—शक्रेण समः (रामायण); अनेन सदृशो लोके न भूतो न भविष्यति (हितोपदेश); पशुभिः समानाः (वही); अयं न मे पादरजसापि तुल्यः (मालतीमाधव); अर्जुनस्य समो लोके नास्ति कश्चिद्धनुर्धरः (महाभारत)। हिंदी का उदाहरण—धूमकेतु की नाईं अनजाने ही यह स्वप्न आया और उसी की तरह यह भी एका-एक ही अदृष्ट हो गया (शेष स्मृतियाँ); जैसी स्थिति से वास्तव में हमें कोई सुख नहीं है वैसी स्थिति किसी दूसरे के समान या दूसरे से अच्छी स्वयं समझने से नहीं बल्कि दूसरों के द्वारा समझी जाने से ही हम संतोष करते हैं (चिंतामणि); हो सकता है सूर्य तुम्हारे सम कैसे है तुलसीदास (संचिता)।

(व) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में 'कृते' (लिये) तथा 'समक्षं' (सामने) षष्ठी वा संबंध-परसर्ग की आकांक्षा रखते हैं। संस्कृत का उदाहरण—अमीषां प्राणानां कृते (भर्तृहरि); राज्ञः समक्षमेव (मालविकाग्निमित्र)। हिंदी का उदाहरण—कला कला के लिये है; आज तो स्वजनों के संमुख ही उसकी लज्जा लुट गई।

संस्कृत के 'समक्षं' के अर्थ में हिंदी में 'संमुख', 'सामने', 'समक्ष' 'आगे', '(अमुक के) रहते हुए' आदि शब्द आते हैं।

§ (८५) संस्कृत में ज्ञान वा अज्ञानवाचक नाम (विशेषण) के साथ आनेवाला कर्म षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति की आकांक्षा रखता है। ऐसे स्थलों पर संस्कृत के प्रयोग की यह परंपरा हिंदी में भी आई, पर कभी-कभी ऐसे स्थलों पर अपादान-परसर्ग का प्रयोग भी यहाँ होता है। संस्कृत का उदाहरण—अनभिज्ञो गुणानां यः स भृत्यैर्नानु-गम्यते (पंचतंत्र); साधुवत्स! अभिज्ञः खल्वसि लोकव्यवहाराणाम् (मुद्राराक्षस); संग्रामाणाम् कोविदः (रामायण); यदि त्वमीदृशः कथायामभिज्ञः (उत्तररामचरित)।

हिंदी में जहाँ संस्कृत के ये दोनों विशेषण 'अभिज्ञ' तथा 'अनभिज्ञ' तत्सम रूप में प्रयुक्त होते हैं वहाँ संबंध तथा अधिकरण के परसर्गों की अपेक्षा अपादान परसर्ग के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक है। विद्वद्गण 'गुणों का वा में अभिज्ञ वा अनभिज्ञ' न लिखकर प्रायः 'गुणों से[1] अभिज्ञ वा अनभिज्ञ' ही लिखते हैं। और जब इनका अर्थ करके 'पंडित', 'ज्ञाता', 'जानकार' आदि रखते हैं तब संबंध तथा अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग होता है; जैसे, 'गुणों के वा में पंडित, ज्ञाता वा जानकार'। इस स्थिति में प्रायः संबंध-परसर्ग का प्रयोग ही सुष्ठु ज्ञात होता है।

'कोविद' के साथ हिंदी में संबंध तथा अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग प्राप्त है; जैसे, 'संग्राम का अकोविद'; 'संग्राम में कोविद वा अकोविद'; भाई विलायती शास्त्रों का पारंगत था; (कुंडलीचक्र); गंभीरपञ्ञं मेधाविं मग्गामग्गस्स कोविदं। उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं (धम्मपदं)।

§ (८६) महामुनि पाणिनि ने अपने व्याकरण के द्विरुक्ति प्रकरण में नाम तथा आख्यात की द्विरुक्ति को प्रधानतः दो श्रेणियों में रखा रखा है --आभीक्ष्ण्य की श्रेणी में तथा वीप्सा की श्रेणी में। आभीक्ष्ण्य की श्रेणी में प्रायः क्रिया का पौनःपुन्य वा उसकी द्विरुक्ति आती है और वीप्सा में प्रायः नामों की द्विरुक्ति। वीप्सा का क्षेत्र विशेष व्यापक है।

हिंदी में संबंध कारक से संबद्ध नामों की जो द्विरुक्ति होती है उसे इसी वीप्सा के अंतर्गत समझना चाहिए। यह द्विरुक्ति संबंध कारक के परसर्गों को प्रायः दो एक समान नामों के मध्य में रखने से होती है; जैसे, सारा का सारा, कोरा का कोरा आदि। नीचे हम संबंध कारक से संबद्ध द्विरुक्तियों पर कुछ विचार करेंगे—

---

१. यह 'सन' के अर्थ का 'से' है, जिसका अर्थ है 'साथ'।

(अ) **तादूरूप्यबोधक**—इसके द्वारा यह व्यक्त होता है कि जो व्यक्ति वा वस्तु जैसी थी वैसी ही है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन वा विकार उपस्थित नहीं हुआ। उदाहरण—सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी ओढ़ के मैली कीनी चदरिया। दास कबीर जतन सों ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया (कबीर); तुम तो कोरे के कोरे ही रह गए, आदि।

साधारण जनता ने 'कोरा का कोरा' को 'कोरमकोर' रूप दे दिया है; जैसे, मैं तो क़ोरमकोर (कोरा का कोरा) हूँ।

कभी-कभी साहित्यारूढ़ भाषा में भी इसका प्रयोग प्राप्त होता है; यथा, कोरमकोर आदर्शस्थापन को छोड़कर वे नवीन वास्तविकता की ओर कई कदम आगे बढ़े हैं (जयशंकर प्रसाद)।

(आ) **समुच्चयबोधक**—सामान्यतया इसके द्वारा-निपात 'भी' का अर्थबोध होता है; जैसे, आम के आम गुठलियों के दाम। इससे यह व्यंजना होती है कि 'आम भी मिले और गुठलियों के दाम भी।' और उदाहरण—पैसा का पैसा गया और कुछ फल भी न निकला; लड़का का लड़का मरा, बहू राँड़ हुई ऊपर से।

उपर्युक्त उदाहरणों से ज्ञात होगा कि ऐसे प्रयोग प्रायः अपने साथ एक वाक्य और लिए रहते हैं।

(इ) **तद्देश तथा तत्कालबोधक**—इसके द्वारा किसी वस्तु वा व्यक्ति का तथा किसी काल का किसी स्थान तथा काल में ही स्थित वा सीमित होना व्यक्त होता है। उदाहरण—मैं दिन के दिन उनके यहाँ गया और मैंने उनकी सहायता की (दिन के दिन = उसी दिन); दूँगा एक लट्ठ, वहीं के वहीं रह जाओगे (वहीं के वहीं = उसी स्थान पर = जहाँ के तहाँ)।

इसी संबंध कारक के आधार पर 'बात की बात में (=शीघ्र ही)'

का प्रयोग (=मुहावरा) चलता है; जैसे, बात की बात में स्टेशन आ गया (गोदान)।

(ई) **समष्टिबोधक**—इससे संपूर्णता समुदाय, मात्र आदि का बोध होता है। उदाहरण—मगर वह सारी की सारी उस पद की मर्यादा पालन करने में ही उड़ जाती थी (गोदान); ऐसे अवसरों पर गोविंदी अपने एकांत कमरे में जा बैठती और रात की रात रोया करती (वही); बच्चा उन चीजों की ओर लपक रहा था और चाहता था सब का सब एक साथ मुँह में डाल ले (वही); दावाग्नि से जंगल का जंगल भस्म हो गया।

(उ) **नित्यताबोधक**—इसके द्वारा एक एक करके सदैव किसी कार्य का होना व्यक्त होता है। उदाहरण—चैत के चैत रामनवमी पड़ती है; सावन में मंगल के मंगल दुर्गा जी का मेला लगता है।

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण का तात्पर्य यह है कि सदैव प्रत्येक चैत मास में रामनवमी का पर्व पड़ता है। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण का तात्पर्य यह है कि सदैव सावन के महीने में प्रत्येक मंगलवार को दुर्गाजी का मेला लगता है।

इसके द्वारा प्रायः किसी विशिष्ट काल की ही व्यंजना होती है।

इस अंक के अंतर्गत विवेचित संबंध कारक के परसर्ग के स्वरूप के उदाहरणों को देखने से ज्ञात होता है कि इस प्रकार का संबंध-परसर्ग प्रायः एक वाक्य-खंड (फ्रेज) में स्थित रहता है।

§ (८७)—§ ६ और § १० में कारकों के विकास पर सामान्य विचार करते हुए हमने देखा है कि सभी कालों में षष्ठी का प्राधान्य रहा है। वैदिक काल में षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी तथा चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग प्रायः होता रहा। पालि वा प्राकृत काल में षष्ठी का प्रयोग चतुर्थी के अर्थ में इस बहुलता के साथ होने लगा

कि उस काल में चतुर्थी का लोप-सा हो गया। संस्कृत में भी चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी के प्रयोग का प्राधान्य था, इसे हम सोदाहरण आगे देखेंगे। अपभ्रंश-काल में पंचमी के अर्थ में षष्ठी के प्रयोग का बाहुल्य हो गया। इस काल में तो प्रायः सभी कारकों की विभक्तियों के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग होता था। इससे हमें यह ज्ञात होता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से चतुर्थी तथा पंचमी के अर्थों में षष्ठी के प्रयोग की प्रवृत्ति का प्राधान्य है। पालि वा प्राकृत काल में चतुर्थी के अर्थ में इसके प्रयोग का प्राधान्य था और अपभ्रंश में पंचमी के अर्थ में भी। और, इसका तो सहज में ही अनुमान किया जा सकता है कि प्रयोग का यह प्राधान्य एक काल से दूसरे काल में क्रमशः विकसित होते हुए ही आया होगा, अचानक न फट पड़ा होगा। हिंदी में भी संप्रदान-परसर्ग तथा अपादान-परसर्ग के अर्थ में संबंध-परसर्ग का प्रयोग अधिक होता है, और यह परंपराप्राप्त है। नीचे हम इसपर विचार करेंगे।[१]

संप्रदान-परसर्ग के अर्थ में संबंध-परसर्ग

§ (८८) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में गौण कर्म के साथ षष्ठी वा संबंध-परसर्ग का प्रयोग होता है। ऐसे स्थलों पर संबंध-परसर्ग का प्रयोग संप्रदान-परसर्ग का ही अर्थबोधक होता है। संस्कृत का उदाहरण—इहामुत्र च साध्वीनां पतिरेका गतिः (कथासरित्सागर); कोऽति भारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्। को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् (पंचतंत्र); के मम धन्विनोऽन्ये—(कुमार-संभव); यथार्थवादिनो दूतस्य न दोषः करणीयः (पंचतंत्र)। हिंदी का उदाहरण—तेरे जन अगणित, परंतु मैं एक विजनता तेरी;

१. इस विषय में हमें कारक-परसर्ग-व्यत्यय के अंक के अंतर्गत ही विचार करना चाहिए था, पर यह स्थान अधिक घेरेगा, इसलिये अलग ही इसकी विवेचना की जा रही है।

बस इतनी ही मति है मेरी, इतनी ही गति मेरी (द्वापर); मेरे सुख-दुःख का जो साथी हो ऐसा मेरे कौन है; आदि ।

§ (८६) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में अनुरूप, अनुकूल, योग्य, प्रिय, प्रतिकूल, विप्रिय तथा इनके पर्यायवाची विशेषण षष्ठी वा संबंध कारक के परसर्ग की आकांक्षा रखते हैं और पंचमी वा संप्रदान-परसर्ग के अर्थबोधक होते हैं। संस्कृत का उदाहरण—करिष्यामि तव प्रियम्, आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् (पंचतंत्र); अयोग्यमिदं न्यासस्य गृहम् (मृच्छकटिक)। हिंदी का 'उदाहरण—कँटीली जटिल-डाल में बास, अधर-आँखों में हास; झूलना **झोंकों** के **अनुकूल**; हृदय में दिव्य-विकास; सजग-कवि-से गुलाब के फूल! तुम्हीं-सा हो मेरा जीवन (पल्लव); **युवाओं का** प्रिय-पुष्प गुलाब, प्रणय-स्मृति-चिन्ह, प्रथम-मधुबाल, खोलता लोचन-दल अभिराम, प्रिये, चल-अलिदल से वाचाल (गुंजन); यह कार्य तुम्हारे योग्य नहीं **है**, इत्यादि ।

§ (९०) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में कुछ धारण करने वा होने के साथ षष्ठी वा संबंध-परसर्ग का प्रयोग पंचमी वा संप्रदान-परसर्ग के अर्थ में होता है। उदाहरण—तस्य ह शतं जाया बभूवुः (ऐतरेय ब्राह्मण); अन्यत्र गतानां धनं भवति (पंचतंत्र)। यदि उपर्युक्त उदाहरणों को हिंदी में रखना चाहें तो भी इनके साथ संबंध परसर्ग का ही प्रयोग होगा—'उसके एक सौ पत्नियाँ थीं'; 'दूसरे स्थान में (विदेश में) जानेवालों के वा का धन होता है।'

§ (९१) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में 'होना', 'करना' आदि तथा किसी के लिये कोई उपकार, अपकार आदि का करना वा होना की बोधक क्रियाएँ षष्ठी वा संबंध कारक के परसर्ग की आकांक्षा रखती हैं और पंचमी वा संप्रदान-परसर्ग का अर्थबोध कराती हैं। संस्कृत का उदाहरण—किमस्य पापस्यानुष्ठीयताम् (मृच्छकटिक);

किमस्य भिक्षोः क्रियताम् (वही); मित्राणामुपकुर्वाणो राज्यं रक्षितुमर्हसि (रामायण); अपराद्धोऽस्मि तत्रभवतः कण्वस्य (अभिज्ञानशाकुंतल)। हिंदी का उदाहरण—तुम तो गंगा में डूब मरोगे, तुम्हारी मेहरिया का क्या होगा; मैं तुम्हारा क्या करूँ, मुँह नोच लूँ ; मैंने आपका क्या उपकार वा अपकार किया है।

§ ३७ में उल्लिखित क्रियाओं के साथ संस्कृत में चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग होता है। हिंदी में उनके साथ किसी भी स्थिति में संबंध-परसर्ग का प्रयोग नहीं प्रचलित है। भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा अन्य लेखकों ने भी 'अर्पण करना' वा 'देना' क्रिया के साथ संबंध-परसर्ग का प्रयोग किया है जो बड़ा सुष्ठु प्रयोग समझा जाता है—पहले इसके कि तुम्हारा बाल भी टेढ़ा हो मैं अपना माँस, त्वचा, अस्थि और जान, प्राण वो धन उस जैन के अर्पण करूँगा—(दुर्लभ बंधु); जाओ गिरीश, दौड़कर उनतक पहुँचो, यह अँगूठी उनके भेंट करो (वही); ये पत्र इंदिरा को लिखे गए थे, इसलिये इन्हें उसी की भेंट करता हूँ (पिता के पत्र पुत्री के नाम), वहाँ किसी देवी ने माँ का दूध छूटते ही अत्यंत विचित्र शैशव अवस्था के दो बालक लाकर उन महात्मा के अर्पण किए (उत्तररामचरित)।

इस क्रिया के साथ संस्कृत में चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग प्रचलित है। उदाहरण—सूतस्याभरणानि धनुश्चोपनीयार्पयति (अभिज्ञानशाकुंतल); अन्यांतावद् दश सुवर्णानस्यैव प्रयच्छ (मृच्छकटिक); प्रजापतेरात्मानं परिददानि (छांदोग्योपनिषद्)।

अपादान-परसर्ग के अर्थ में संबंध-परसर्ग

§ (६२) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में पंचमी वा अपादान-परसर्ग तथा षष्ठी वा संबंध-परसर्ग के विकास पर विचार करते हुए हम इन दोनों विभक्तियों वा कारक-परसर्गों के व्यत्यय का भी अवलोकन कर आए हैं। पर देश-कालारंभसूचक अपादान (§ ५३) तथा

दिशासूचक संबंध (§ ७३) में और जन्य-जनक-संबंधसूचक संबंध (§ ७१) में इनपर प्रधानरूपेण कहा गया है। आगे हम इन कारक-विभक्तियों वा परसर्गों के व्यत्यय पर कुछ और विचार करना चाहते हैं।

संस्कृत तथा हिंदी की कुछ क्रियाएँ यथा, (१) पूछना, ग्रहण करना, प्राप्त करना, इच्छा करना आदि, (२) सुनना, सीखना, (३) डरना आदि प्रायः पंचमी वा अपादान कारक के परसर्ग की आकांक्षा रखती हैं पर कभी-कभी षष्ठी वा संबंध कारक के परसर्ग के साथ प्रयुक्त होकर पंचमी वा अपादान कारक के परसर्ग का अर्थबोध कराती हैं।

(१) इन क्रियाओं के साथ पंचमी वा अपादान-परसर्ग का प्रयोग ही अत्यधिक प्रचलित है, षष्ठी वा संबंध-परसर्ग का बहुत कम (दे० § ४८)। संस्कृत का उदाहरण—राज्ञस्तस्य……व्रजतो विजयेश्वरं। ययाचे काचिदबला भोजनम् (राजतरंगिणी); प्रतीच्छ मम (रामायण); राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः; अहमस्य ब्राह्मणस्य गोयुगमय हरिष्यामि (पंचतंत्र)। हिंदी का उदाहरण—(क) मैं तेरा क्या लेता वा माँगता हूँ कि रंग बदल रहा है; (ख) मेरी विनती भी स्वीकारो; (ग) मैं उनका क्या पूछूँ, जिनके आगे पीछे कोई रोने-गाने वाला नहीं है।

(क) इसका अर्थ यह है कि तेरे पास जो कुछ है उसमें से मैं क्या लेता वा माँगता हूँ।

(ख) विनती रूप में जो वाणी मुझसे निकल रही है उसको स्वीकार करो।

(ग) इसका तात्पर्य यह है कि उनके विषय में उनसे क्या पूछूँ!

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि इन क्रियाओं के योग में षष्ठी वा संबंध परसर्ग पंचमी वा अपादान परसर्ग के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

(२) संस्कृत का उदाहरण—चाराणां रावणः श्रुत्वा प्राप्तं रामम् (रामायण); निबोध मम (वही); शृणु वदतो मम (महाभारत)। हिंदी का उदाहरण—(प) 'मेरा कहना सुनो'; (फ) कुछ उनका भी सीख लो। (दे० § ४८)।

(प) इसका अर्थ यह है कि जो कुछ मुझसे कहा गया है उसे सुनो।

बनारसी बोली में ऐसे स्थलों पर प्रायः संबंध-परसर्ग का प्रयोग प्रचलित है। यहाँ 'हमसे कहल सुनऽ' तथा 'हमसे कहले न सुनबऽ' न कहकर 'हमार कहल सुनऽ' तथा 'हमरे कहले न सुनबऽ' ही कहते हैं।

यहाँ तनिक ध्यान देने की बात यह है कि ऐसे स्थलों पर कृदंत के साथ ही संबंध-परसर्ग का प्रयोग अपादान-परसर्ग के अर्थ में अधिक प्रचलित है। अपादान-परसर्ग का प्रयोग भी यहाँ होता है।

(फ) 'कुछ उनका भी सीख लो' से तात्पर्य यह है कि उनके गुण से वा में से तुम भी कुछ ले लो—सीख लो।

(३) 'डरना' क्रिया के प्रयोग तथा उदाहरण के लिये देखिए § ५२। इसके साथ संबंध तथा अपादान दोनों कारकों के परसर्गों का प्रयोग बहुप्रचलित है।

§ (६३) संस्कृत में काल-बोधनार्थ पंचमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग होता है। यथा, चिरस्य वा चिरस्य कालस्य = चिरात्, मुहूर्तस्य = मुहूर्तात्। प्रयोग की यह परंपरा संस्कृत से हिंदी में भी आई है, जो विशेष रूपेण अवलोकनीय है। हिंदी में भी ऐसे प्रयोग चलते हैं। यथा 'मैं बहुत दिनों का यहाँ आया हूँ = मैं बहुत दिनों से

यहाँ आया हूँ।' संस्कृत का उदाहरण—सुदीर्घस्य कालस्य राघवोऽयं ......यज्ञं द्रष्टुं समागतः (रामायण) = 'राघव इस यज्ञ को देखने के लिये बहुत काल के आए हैं।'

§ (९४) **कारक-परसर्ग-व्यत्यय**—(क) संबंध-परसर्ग के स्थान में कर्म-परसर्ग—जन्म-भूमि को मोह छोड्डिश्र (कीर्तिलता); जब सुबुक्तिगीन मरा। ती उसके बेटे महमूद को तीसवाँ बरस था (इतिहास तिमिर नाशक)। यहाँ 'महमूद का' भी प्रयोग हो सकता है। चाहे कर्म-परसर्ग का प्रयोग करें चाहे संबंध-परसर्ग का, अर्थ में कोई वैभिन्य उपस्थित नहीं होता। दोनों से यही अर्थबोध होता है कि जब कोई अमुक वर्ष की अवस्था में था।

(ख) संबंध-परसर्ग के स्थान में करण-परसर्ग—संत न बाँधै गांठड़ी, पेट समाता लेइ। सांईं सूं सनमुष रहै, जहां मांगै तहां देई (कबीर ग्रंथावली)।

(ग) संबंध-परसर्ग के स्थान में संप्रदान-परसर्ग—परंतु प्रचलित रीति के अनुसार इसको सच्ची हितकारी शिक्षा नहीं हुई थी (परीक्षा-गुरु); कुँवर उदैभान यह सुनकर उठ बैठे और यह कहा, क्यों न हो, जी को जी से मिलाप है (रानी केतकी की कहानी); इन अक्षरों से ('गंगा जी' से) हमारे भारत को कितना संबंध है (प्रताप-समीक्षा); सुअण पसंसइ कव्व मक्कु, दुज्जन बोलइ मंद। अवसओ विसहर विस बमइ, अमिअ विमुक्कइ चंद (कीर्तिलता); 'तुम्हे सचे मय्हं वचनं केरय्याथ अहं वो एकेकं मुखतुंडकेन गहेत्वा एकं पंच वण्ण-पदुमसञ्छन्नं महासरं नेत्वा विस्सज्जेय्यं' हि (पालि पाठावलि)।

इन उदाहरणों के अवलोकन से ज्ञात होगा कि संप्रदान-परसर्ग तथा संबंध-परसर्ग का कितना घनिष्ठ संबंध है। इन दोनों कारकों पर हमने अन्यत्र भी विचार किया है। वस्तुतः इन दोनों कारकों में बड़ी घनिष्ठता है। हमें ज्ञात है कि संप्रदान द्वारा प्रधानतः स्वामित्व,

धारण, अधिकार आदि व्यक्त होता है, और संबंध द्वारा भी इन्हीं अर्थों की व्यंजना होती है। 'कोई वस्तु किसी के लिये है' से यही बोध होता है कि वह उसकी है; हाँ, यह हो सकता है कि अभी वह उसका स्वामी, धारणकर्त्ता वा अधिकारी होनेवाला हो। जैसे, 'यह पत्तल उनके लिये है' से यही ध्वनि निकलती है कि 'यह पत्तल उनका है', इस समय यह उनका नहीं है, पर वे इसके अधिकारी हैं, और यह उन्हीं को मिलेगा।

(घ) संबंध-परसर्ग के स्थान में अपादान-परसर्ग—इन्से सिवाय जिस्तरह बहुत से रसायनी तरह, तरह का धोका देकर सीधे आदमियों को ठगते फिरते हैं, इसी तरह यह भी जुआरी बनाने की एक चाल है (परीक्षा गुरु)।

ऐसे स्थलों पर संबंध-परसर्ग का प्रयोग ही विशेष सुष्ठु प्रतीत होता है—इसका अर्थ इसके सिवा और कुछ नहीं है कि तुम मुझे लज्जित करना चाहते हो (गोदान); धनिया का घमंड तो उसके सँभाल से बाहर हो हो जाता था (वही)। हिंदी में ऐसे स्थलों पर संबंध-परसर्ग का प्रयोग ही चलता है, और अपादान-परसर्ग की अपेक्षा कर्णमधुर भी लगता है; पर अपादान-परसर्ग का प्रयोग ही परंपरा-प्राप्त है, संबंध-परसर्ग का प्रयोग विकसित प्रयोग है। संस्कृत का उदाहरण—ग्रामात् बहिः।

(ङ) संबंध-परसर्ग के स्थान में अधिकरण-परसर्ग—ये च खो **संम्मदक्खाते धम्मे** धंमानुवत्तिनो। ते जना नुवत्तिनो। ते जना पारमेस्संति मच्चुधेयं सुदुत्तरं—(धम्मपदं); और तुम सपथपूर्वक कह सकोगी कि मैथिल (मैथिली ?) में मुझे कितना न्यून अभ्यास है (दुर्लभ बंधु); और आपके मुकद्दमों में सच्चे मन से पैरवी करें (परीक्षा गुरु); उनके भाई अर्जुन का पोता परीक्षित गद्दी पर बैठा

और परीक्षित से लेकर छब्बीस पीढ़ी तक उसी के घराने में राज रहा (इतिहास तिमिर नाशक)।

उपर्युक्त उदाहरणों में अधिकरण-परसर्ग के स्थान पर संबंध-परसर्ग का भी प्रयोग होता है, तात्पर्य यह कि अधिकरण-परसर्ग तथा संबंध-परसर्ग के प्रयोग में प्रायः विकल्प देखा जाता है। यह विकल्प बोलचाल तथा साहित्य दोनों में प्राप्त है।

नीचे हम अधिकरण तथा संबंध के अर्थ-भेद का एक उदाहरण देते हैं—

वह कुँवर उदैभान, जिससे तुम्हारे घर का उजाला है, इन दिनों में कुछ उसके तेवर और बेडौल आँखें दिखाई देती हैं (रानी केतकी की कहानी)। यहाँ अधिकरण का प्रयोग भी हो सकता है; पर, दोनों के अर्थ में कुछ भेद लक्षित होता है। संबंध के प्रयोग से शाश्वतिकत्व का बोध होता है, इससे यह व्यक्त होता है कि वह भूत-काल में ऐसा था, इस समय भी है, और भविष्य में भी हो सकता है, उसके द्वारा कुल की कीर्ति की स्थिरता है। अधिकरण द्वारा केवल वर्त्तमान तक की ही विशिष्टता ज्ञात होती है। वर्त्तमानकाल में वह इस गुण को धारण किए हुए है, पीछे आगे का कुछ ज्ञान नहीं है कि वह इसे धारण किए था वा किए रहेगा कि नहीं।

(च) संबंध कारक की विभक्ति—संस्कृत की षष्ठी विभक्ति पालि वा प्राकृत-काल में घिसते-घिसते अपभ्रंश तथा अवहट्ट-काल में केवल 'ह' के रूप में रह गई। अपभ्रंश तथा अवहट्टों में भी यह प्रयुक्त है। विद्यापति की मैथिली अवहट्ट में यह देखी जा सकती है। अपभ्रंश तथा अवहट्ट के संबंध कारक की विभक्ति 'ह' कबीर की भाषा में भी बहुलता से मिलती है। तात्पर्य यह कि यह 'ह' हिंदी तक में प्राप्त है—कबीर मन मधुकर भया, रह्या निरतंर बास। कवल ज

फूल्या **जलह** बिन, को देखै निज दास (कबीर ग्रंथावली)। बिहारी के किसी किसी दोहे में भी यह 'ह' विद्यमान है—

आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु।
घरहँ जँवाई लौं घट्यो खरौ पूस-दिन-मानु। (बिहारी-रत्नाकर)

(छ) **संबंध के परसर्ग का लोप**—संबंध के परसर्ग का प्रयोग प्रायः संबंध सूचकों के पूर्व होता है। इसका लोप भी प्रायः कर दिया जाता है; जैसे—कितने एक दिन पीछे एक दिन राजा परीक्षित आखेट को गए (प्रेमसागर)। यहाँ पीछे के पूर्व संबंध-परसर्ग 'के' का लोप है।

———

अधिकरण कारक

§ (६५) नाम, जो कर्त्ता वा कर्म द्वारा पूर्ण क्रिया का आश्रय वा आधार होता है, अधिकरण[१] कारक कहलाता है। जैसे, 'वह चटाई पर बैठता है' में 'बैठता है' क्रिया का आधार 'चटाई' है, और इस क्रिया की पूर्ति नाम 'वह' (कर्त्ता) द्वारा हुई है। इसी प्रकार 'वह पतीली में भात पकाता है' में 'पकाता है' क्रिया का आधार 'पतीली' है, और क्रिया की पूर्ति नाम 'भात' (कर्म) द्वारा हुई है। यदि कर्म 'भात' न होता तो कर्त्ता 'वह' रहकर भी क्या करता !

आधार को दृष्टि में रखकर संस्कृत वैयाकरणों ने अधिकरण कारक के तीन प्रकार माने हैं—(१) अभिव्यापक, (२) औपश्लेषिक, (३) वैषयिक।

(१) अभिव्यापक अधिकरण में आधेय आधार के सभी अंशों वा अवयवों में व्याप्त रहता है, तिल भर स्थान भी उससे खाली नहीं रहता। जैसे, तिल में तेल (तिलेषु तैलम्)।

(२) औपश्लेषिक अधिकरण में आधेय आधार का कुछ अंश वा भाग ही घेरता है, सभी भाग नहीं। जैसे, वह चटाई पर बैठता है, (कटे आस्ते)। कोई चटाई के एक ही भाग पर बैठता है, चटाई भर पर नहीं। यह एकदेशीय है।

(३) वैषयिक आधार में किसी वस्तु वा व्यक्ति का किसी विषय में रुचि, अरुचि आदि का बोध होता है। जैसे, दर्शनशास्त्र में उसकी विशेष गति है।

---

१. अधिकरण की सामान्य अभिधा ही आश्रय वा आधार है।

उपर्युक्त थोड़े विवेचन के पश्चात् विचार करने पर हमें ज्ञात होता है कि स्थूलरूपेण अधिकरण स्थानवाचक कारक ही है, हाँ, ऐसी स्थिति में स्थान को कुछ व्यापक अर्थ में लेना होगा, जैसे, आधार, आलंबन, विषय आदि। इसे यों और स्पष्ट किया जा सकता है कि ऐसी अवस्था में अधिकरण केवल शुद्ध स्थान का बोध न कराकर उसके लाक्षणिक अर्थों का भी बोध कराएगा।

करण कारक पर विचार करते हुए हमने देखा है कि अनेक स्थलों पर संस्कृत की तृतीया का विकास हिंदी में अधिकरण-परसर्ग के रूप में हुआ है। स्वयं हिंदी के करण-परसर्ग का विकास भी अधिकरण-परसर्ग के रूप में हुआ है, इसे हम यथास्थान देखते आए हैं। संस्कृत की अन्य कारक-विभक्तियों यथा, चतुर्थी आदि का विकास भी कई स्थलों पर हिंदी के अधिकरण-परसर्ग के रूप में हुआ है, इसे भी हमने देखा है। संबंध के प्रकरण से भी हमें ज्ञात होता है कि अनेक स्थलों पर सप्तमी का प्रयोग षष्ठी के रूप में होता है। इससे हमें अधिकरण के प्रयोग की व्यापकता का ज्ञान हो सकता है।

हिंदी में अधिकरण का परसर्ग 'में' और 'पर' है।

§ (६६) संबंध कारक पर विचार करते हुए हमने देखा था कि उसका प्रयोग अनेक अर्थों में होता है; अधिकरण के विषय में भी यही बात लक्षित होती है, इसका प्रयोग भी अनेक अर्थों में होता है। पर, जैसे संबंध अनेक अर्थों में प्रयुक्त होकर किसी न किसी रूप में संबंध सूचित करता है वैसे ही अधिकरण भी अनेक अर्थों में प्रयुक्त होकर किसी न किसी रूप में स्थान की (आधार, आलंबन, विषय आदि की) व्यंजना करता है। नीचे हम अधिकरण के विनियोग के विशिष्ट स्थलों पर विचार करते हैं।

स्थानवाचक अधिकरण—इस अधिकरण को हम दो रूपों में देख सकते हैं—(क) पहला वह रूप जिसके द्वारा 'कहाँ' का बोध

होता है; इससे व्यक्त होता है कि कहीं पर कोई व्यक्ति वा वस्तु है। (ख) दूसरा वह रूप जिससे यह ज्ञात होता है कि 'कहीं को' (किसी स्थान में वा पर या किसी स्थान की ओर) कोई गति हो रही है। इस रूप में प्रायः गत्यर्थक क्रियाओं के साथ सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग प्रयुक्त होता है।

(क) हमने ऊपर देखा है कि इस अधिकरण से 'कहाँ' का बोध होता है। 'कहीं पर' कुछ है, यह इस बात की व्यंजना करता है। इसके भी कई रूप हो सकते हैं—

(१) स्थानवाचक अधिकरण से यह व्यक्त होता है कि 'किसी स्थान में' कुछ है। यह इसका अति सामान्य रूप है। संस्कृत तथा हिंदी दोनों में यह ज्यों का त्यों प्रयुक्त होता है। संस्कृत का उदाहरण—गंगांभसि विहरन् (दशकुमारचरित); कस्यचिच्चित्र-कारस्य हस्ते चित्रपटं ददर्श (वही)। हिंदी का उदाहरण—मेरी आहों में जागो सुस्मित में सोनेवाले, अधरों से हँसते हँसते आँखों से रोनेवाले (आँसू); मैंने कमरे में किताब न देखी तो उनसे पूछा (अग्निसमाधि और अन्य कहानियाँ)।

(२) स्थानवाचक अधिकरण की व्यंजना 'पर' द्वारा होती है। इस 'पर' से कुछ विशिष्ट अर्थ भी प्राप्त होते हैं, इसे हम उदाहरणों में देखेंगे। संस्कृत तथा हिंदी दोनों में ऐसे प्रयोग प्राप्त हैं। यहाँ संस्कृत से हिंदी में आकर कोई विकास नहीं हुआ। संस्कृत का उदाहरण—रासभः कश्चित्तत्र श्मशाने दृष्टः (पंचतंत्र); (व्यजने) गृहीते वारनारीभ्यां धूयमाने च मूर्धनि (रामायण); ते च मत्स्या वह्नौ पाचनस्य तिष्ठंति (पंचतंत्र)। हिंदी का उदाहरण—अरे, कहीं देखा है तुमने मुझे प्यार करनेवाले को (लहर); वह देखो, उस पेड़ की फुनगी पर बिजली दिखाई पड़ी; दूध आँच पर रख दो। अंतिम दोनों उदाहरणों में वैशिष्ट्य यह है कि इनमें 'पर' के द्वारा

'कुछ ऊपर' की व्यंजना होती है। 'फुनगी पर' से तात्पर्य यह है कि फुनगी के कुछ दूर ऊपर, ठीक उसी पर नहीं। इसी प्रकार 'आँच पर' से यह व्यक्त होता है कि आँच के तनिक ऊपर—अँगीठी, चूल्हे आदि पर। नित्यप्रति के व्यवहार में तो ऐसे प्रयोग खूब चलते हैं; जैसे, कोठे पर चँदोवा लगा है; तनिक सिर पर हवा करो; आदि। ऐसे स्थलों पर 'पर' का प्रयोग अँगरेजी के 'अपौन' और 'ओवर' के अर्थों में समझना चाहिए।

(३) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में इस अधिकरण द्वारा देश, प्रांत, नगर, कोई स्थान आदि की व्यंजना होती है। ऐसे स्थलों पर परसर्ग 'में' का प्रयोग होता है। संस्कृत का उदाहरण—अस्ति दक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् (पंचतंत्र); फलं दृष्टं द्रुमेषु (दश-कुमारचरित)। हिंदी का उदाहरण—इस नगरी के वृद्ध क्षीणहृदय जुमा मसजिद में अब भी जीवन के कुछ चिह्न देख पड़ते हैं (शेष स्मृतियाँ); प्रेमनगर में बनाऊँगी घर मैं तजके सब संसार।

(४) किसी वस्तु, व्यक्ति वा स्थान से किसी वस्तु, व्यक्ति वा स्थान की समीपता व्यक्त करने के लिये जिससे सामीप्य व्यक्त करना होता है उसके साथ सप्तमी का प्रयोग होता है। संस्कृत में इसी को 'सामीप्ये सप्तमी' का प्रयोग कहते हैं। संस्कृत तथा हिंदी दोनों में ऐसे प्रयोग प्रचलित हैं। संस्कृत का उदाहरण—आसेदुर्गंगायां पांडु-नंदनाः (महाभारत); नो चेदनाहारेणात्मानं तव द्वारि व्यापादयिष्यामि (हितोपदेश)। हिंदी का उदाहरण—वे तो दुर्गाकुंड में रहते हैं, पर उनका एक भाई भुतही इमली पर रहता है।

यहाँ 'में' या 'पर' से ठीक उसी स्थान पर का तात्पर्य नहीं है, प्रत्युत उस स्थान के आस-पास से तात्पर्य है।

(५) संस्कृत तथा हिंदी में भी स्थानवाचक अधिकरण द्वारा स्थान का घेरा वा स्थान में स्थित मनुष्य-समूह का घेरा व्यक्त होता

है। संस्कृत का उदाहरण—न देवेषु न यक्षेषु तादृग्रूपवती क्वचित्। मानुषेष्वपि चान्येषु दृष्टपूर्वाथ वा श्रुता; अभ्रमच्च पौरजानपदेष्वियं वार्त्ता (दशकुमारचरित)। हिंदी का उदाहरण—सबका निचोड़ लेकर तुम सुख से सूखे जीने में बरसो प्रभात हिमकन-सा आँसू इस विश्व-सदन में (आँसू)।

'विश्व-सदन में' का तात्पर्य 'विश्व-सदन के मध्य' से है। यहाँ अधिकरण द्वारा किसी स्थान का घेरा व्यक्त हुआ है। 'विश्व-सदन' से इसमें रहनेवाली मानव-जाति की भी व्यंजना हुई है।

इस प्रयोग के समान ही एक और प्रयोग चलता है, जिसके द्वारा शुद्ध स्थान के घेरे का अर्थ निकलता है। जैसे, काशी पाँच कोस में बसी है। इस उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि काशी पाँच कोस के घेरे में बसी है।

ऐसी स्थिति में 'में' का प्रयोग अँगरेजी के 'एमिड्' और 'एमंग' के अर्थों में समझना चाहिए।

(ख) हमने ऊपर कहा है कि स्थानवाचक इस अधिकरण से किसी वस्तु वा व्यक्ति की किसी स्थान पर गति सूचित होती है। हमें यह भी ज्ञात है कि ऐसी अवस्था में सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग गत्यर्थक क्रियाओं के साथ होता है। जैसे, (१) जाना, ले जाना, प्रस्थान करना, भेजना आदि; (२) प्रवेश करना, आदि; (३) समा जाना आदि; (४) फेंकना, आदि; (५) रखना, आदि; (६) चढ़ना, आदि; (७) मारना, आदि। क्रियाओं की इस सूची से ज्ञात होता है कि ये सभी क्रियाएँ किसी न किसी प्रकार गति सूचित करती हैं। संस्कृत तथा हिंदी दोनों में इन क्रियाओं के साथ प्रायः सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग प्रयुक्त होता है।

अधिकरण का यह प्रयोग इतना सामान्य तथा प्रचलित है कि

इसका उदाहरण देना विशेष आवश्यक नहीं प्रतीत होता, पर कुछ क्रियाओं पर हम विचार करेंगे।

(३) संस्कृत का उदाहरण—एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतींदोः किरणेष्विवांकः (कुमारसंभव)। हिंदी का उदाहरण—मेरी आँखों की पुतली में तू बनकर प्राण समा जा रे (लहर)।

किसी स्थान पर पहुँच जाना सूचित करने के लिये गत्यर्थक क्रियाओं के साथ द्वितीया का भी प्रयोग संस्कृत में होता है। हिंदी में ऐसे स्थलों पर अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग ही विशेष रूप से प्रचलित है। उदाहरण—समितिमेयाय (छांदोग्योपनिषद्); स्वपृष्ठमारोप्य माम् (पंचतंत्र); तपोवनं तावत्प्रविशामि (अभिज्ञानशाकुंतल)। हिंदी में 'अपनी पीठ पर लेकर' तथा 'तबतक तपोवन में प्रवेश करता हूँ' कहेंगे। कर्म-परसर्ग का प्रयोग न करेंगे।

संस्कृत में कुछ अन्य क्रियाओं के साथ भी कभी-कभी द्वितीया प्रयुक्त होती है। जैसे, 'आ' उपसर्गयुक्त 'रुह' धातु के साथ द्वितीया का प्रयोग—'तुलामारोहति'। हिंदी में 'तुला पर चढ़ता है' लिखा जायगा; 'तुला को चढ़ता है' नहीं।

कुछ गत्यर्थक क्रियाओं के साथ अधिकरण-परसर्ग तथा कर्म-परसर्ग के प्रयोग में कुछ अर्थ भेद लक्षित होता है। इसे हम 'कारक-परसर्ग-व्यत्यय' में देखेंगे।

§ (६७) संस्कृत में नाम के विशेषण के रूप में सप्तमी तथा षष्ठी दोनों आती हैं। पर ऐसे स्थलों पर षष्ठी का प्रयोग ही अधिक प्रचलित है। यथा, कूपे सलिलम्, नद्यां नौका। 'कूपस्य सलिलम्' तथा 'नद्याः नौका' का प्रयोग विशेष चलता है। हिंदी में भी ऐसे स्थलों पर संबंध परसर्ग का ही प्रयोग विशेष सुष्ठु ज्ञात होता है।

बनारसी बोली में ऐसे स्थलों पर दुहरे कारक-परसर्गों (अधिकरण-परसर्ग तथा संबंध-परसर्ग) का प्रयोग चलता है; जैसे, 'अब गंगा में क

पानी तनिक मटमइल होय चलल हौ। 'गंगा में क पानी' का तात्पर्य 'गंगा का पानी' (वा गंगा में पानी) से ही है।

इसी प्रकार संस्कृत में कहा जायगा 'इति श्रीमद्रामायणे वाल्मिकीये अरण्यखंडे प्रथम सर्गः।' हिंदी में यहाँ संबंध कारक के परसर्ग का ही प्रयोग होगा, जैसे 'वाल्मिकीय रामायण के अरण्यखंड का प्रथम सर्ग।'

§ (६८) स्थानवाचक अधिकरण के दोनों रूपों का विवेचन हमने ऊपर देखा है। ये ही स्थानवाचक अधिकरण अनेक लाक्षणिक तथा विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। आगे हम ऐसे ही कुछ प्रयोगों पर विचार करेंगे।

(क) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में 'पीना' क्रिया के साथ जिस पात्र में कोई पेय वस्तु पी जाती है वह सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग की आकांक्षा रखता है। पर, अर्थ कुछ-कुछ पंचमी वा अपादान-परसर्ग तथा तृतीया वा करण-परसर्ग का भी देता है। उदाहरण—लोकः पिबति सुरां नरकपालेऽपि (पंचतंत्र)। हिंदी में भी ऐसा प्रयोग चलता है; जैसे, 'मैं लोटे में पानी पीता हूँ।' यहाँ 'लोटे में' का तात्पर्य है 'लोटे में भरे पानी को उससे (लोटे की सहायता से—करण-परसर्ग) वा उससे मुँह में डालकर (अपादान-परसर्ग) पीता हूँ।' हिंदी में इस क्रिया के साथ शुद्ध करण-परसर्ग का भी प्रयोग बराबर होता है। यथा, 'मैं चिल्लू से पी लूँगा।' संस्कृत में भी 'चुलुकेन जलं पिबति' चलता है।

(ख) संस्कृत में 'तृप्' धातु के साथ सप्तमी प्रयुक्त होती है। हिंदी में भी संस्कृत की परंपरा आई है, पर यहाँ ऐसी स्थिति में अपादान-परसर्ग का प्रयोग भी प्रचलित है। संस्कृत का उदाहरण—सशेष एवांधस्यसावतृप्यत् (दशकुमारचरित); न तृप्तोऽस्मि यौवने

(महाभारत)। हिंदी का उदाहरण—सौ लड्डू में वा से उसकी तृप्ति नहीं हुई, 'मैं यौवन में वा से तृप्त नहीं हूँ।'

(ग) संस्कृत में 'जन्' धातु के साथ सप्तमी का प्रयोग होता है। हिंदी में ऐसे स्थलों की सप्तमी का विकास अपादान-परसर्ग में हुआ है। पूर्ण विवेचन तथा उदाहरण के लिये देखिए § ५६।

(घ) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में 'गिना जाना', 'माना जाना' आदि क्रियाओं के साथ सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग होता है। उदाहरण— अगण्यतामरेषु (दशकुमारचरित)। 'वह देवताओं में गिना गया' (अर्थात् मर गया)।

§ (६६) संस्कृत में जिसके साथ निवास किया जाता है वा ठहरा जाता है उसके साथ सप्तमी प्रयुक्त होती है। ऐसे स्थलों में संबंध-परसर्ग के साथ 'साथ' का प्रयोग शिष्ट हिंदी में चलता है। केवल अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग भी होता है, पर यह प्रांतीय है। संस्कृत का उदाहरण—अनाथाहं त्वयि वस्तुमिच्छामि (प्रबोधचंद्रोदय); नारीणां चिरवासो हि बांधवेषु न रोचते (महाभारत)। यदि उपर्युक्त उदाहरणों का ज्यों का त्यों हिंदी-अनुवाद किया जाय तो उनका रूप इस प्रकार का होगा—'मैं अनाथ हूँ और तुममें (वा पर) बसने (रहने) की इच्छा रखता हूँ', 'स्त्रियों का अपने बंधुओं में सब दिन रहना अच्छा नहीं होता।'

ऐसे स्थलों पर सामान्यतः लोग संबंध-परसर्ग के साथ 'साथ' का प्रयोग करते हैं, और इसी का अधिक प्रचार भी है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त उदाहरणों में 'तुम्हारे साथ' तथा 'बंधुओं के साथ' का प्रयोग होगा।

साधारण बोलचाल की भाषा में संस्कृत की परंपरा का ही निर्वाह होता है। लोग प्रायः यही कहते हैं कि 'वे उनमें रहते हैं', और इसका तात्पर्य यह होता है कि 'वे उनके घर, परिवार में रहते हैं।'

बनारसी बोली में ऐसे स्थलों पर अधिकरण-परसर्ग के अर्थ में दुहरे कारक-परसर्गों (संबंध-परसर्ग तथा अधिकरण-परसर्ग) का प्रयोग प्रचलित है; जैसे, 'ऊ ओनके में रहऽला'। इस अर्थ में 'ओनके मिले' का प्रयोग अधिक चलता है—'ऊ ओनके मिले रहऽला' (=वह उनके साथ रहता है)।

§ (१००) संस्कृत में 'स्था' वा 'वृत्' धातु के साथ सप्तमी का प्रयोग कहना मानना, वश में होना, मत में होना आदि अर्थों में होता है। संस्कृत के प्रयोग की यह परंपरा हिंदी में भी आई है। संस्कृत का उदाहरण—न मे शासने तिष्ठसि (अभिज्ञानशाकुंतल), मातुर्मते वर्तस्व (दशकुमारचरित)। हिंदी का उदाहरण—मातु मतें महुँ मानि मोहिं, जो कछु कहहिं सो थोर। अघ अवगुन छमि आदरहिं, समुझि आपनी ओर (रामचरितमानस); वह हमारे वश में नहीं है।

बनारसी बोली में भी 'रहना' क्रिया के साथ ठीक ऐसा ही प्रयोग चलता है—पुतवा तौ बपवै के मत में रहऽला! ऊ हमरे बस में नाहीं रहतन!

संस्कृत में 'स्था' धातु के साथ सप्तमी का एक बहुत विशिष्ट प्रयोग चलता है; जैसे, 'मयि तिष्ठते', यह मुझ पर है=मेरे पर सब कुछ आश्रित है, मैं चाहे जो करूँ।

हिंदी में ऐसे प्रयोग खूब चलते हैं। और उदाहरण—बँटवारा होनेवाला है, और मैं मामा जी पर हूँ। यहाँ 'मामा जी पर हूँ' का अर्थ है कि 'यह मामा जी के अधिकार में है कि वे जैसा चाहें वैसा निबटारा करें।'

§ (१०१) इस अंक के अंतर्गत हम कुछ और क्रियाओं के साथ सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग के प्रयोग पर विचार करेंगे।

(अ) संस्कृत 'बंध्' (हिंदी बाँधना) धातु के साथ जिस वस्तु में कोई वस्तु बाँधी जाती है उसके साथ सप्तमी का प्रयोग

चलता है। हिंदी में भी ऐसा प्रयोग इसी अर्थ में प्रचलित है। 'बंध्' (हिंदी बाँधना) धातु के साथ सप्तमी का यह अति सामान्य प्रयोग है। इसके उदाहरण बहुत मिल सकते हैं।

संस्कृत तथा हिंदी दोनों में 'बंध्' (हिंदी—बाँधना, लगना, लगाना) धातु के साथ सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग लाक्षणिक अर्थों में भी होता है। ऐसी अवस्था में संस्कृत का 'बंध्' कभी-कभी 'लगना वा लगाना' का अर्थ देता है। उदाहरण—विषयेष्वबध्यत (भागवत पुराण); अभिलाषे तथाविधे मनो बबंध (रघुवंश)। हिंदी का उदाहरण—बाँधोऽ छवि के नव बंधन बाँधो ! नव नव आशाऽकाङ्क्षाओं में तन-मन-जीवन बाँधो ! छवि के नव— (युगांत); इस बाल्यावस्था में ही विषय-वासनाओं में मन मत लगाओ।

(आ) संस्कृत की लग्, श्लिष्, सज् आदि धातुओं के साथ जिस वस्तु वा व्यक्ति 'में' वा 'पर' (वा से) कोई वस्तु वा व्यक्ति लगा, सटा आदि रहता है उसके योग में सप्तमी का प्रयोग करते हैं पर शिष्ट हिंदी में ऐसे स्थलों पर प्रायः करण-परसर्ग का प्रयोग चलता है। संस्कृत का उदाहरण—'आढ्ये रज्यंति जननिवहाः (पंचतंत्र); कश्चित्तस्य ग्रीवायां लगति (वही); तस्यामसौ प्रासजत् (दशकुमारचरित), एवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यति (छांदोग्योपनिषद्)।

यदि हिंदी में उपर्युक्त उदाहरणों को रखना चाहें तो उसका रूप इस प्रकार का होगा—उनमें से कोई उसके गले (से) लगता है; इस प्रकार जाननेवाले से पाप-कर्म नहीं लगता। 'गले पर वा में लगता है', 'जाननेवाले में वा पर पाप-कर्म नहीं लगता' प्रयोग हिंदी में नहीं चलते, यहाँ करण-परसर्ग का प्रयोग ही प्रचलित है और सुष्ठु ज्ञात होता है। द्वितीय उदाहरण में कर्म-परसर्ग का भी

प्रयोग होता है, यथा, 'इस प्रकार जाननेवाले को पाप-कर्म नहीं लगता।' इसमें 'को लगता' तथा उसमें 'से लगता' का प्रयोग हुआ है, पर अर्थ में कोई भिन्नता नहीं प्रतीत होती। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐसे स्थलों पर प्रायः संस्कृत की सप्तमी का विकास हिंदी के करण-परसर्ग के रूप में हुआ है।

(इ) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में झुकना, विश्वास करना, आशा करना आदि क्रियाओं के साथ जिसपर झुका जाता है, विश्वास आदि किया जाता है, उसके योग में सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग प्रयुक्त होता है। यह बहुत सामान्य प्रयोग है और इसके उदाहरण कहीं भी मिल सकते हैं।

(ई) संस्कृत में 'पकड़ना' क्रिया के साथ एक बहुत विचित्र प्रयोग चलता है। वहाँ जिस वस्तु वा व्यक्ति को पकड़ा जाता है उसके साथ सप्तमी का प्रयोग होता है। तात्पर्य यह है कि संस्कृत में किसी वस्तु वा व्यक्ति 'को' नहीं पकड़ते, प्रत्युत उस वस्तु वा व्यक्ति 'में' पकड़ते हैं। स्पष्ट है कि हिंदी में ऐसे स्थलों पर प्रायः कर्म-परसर्ग और कभी-कभी करण-परसर्ग का भी प्रयोग होता है। संस्कृत का उदाहरण—पाणौ संगृह्य (पंचतंत्र); रदनिकां केशेषु गृहीत्वा- (मृच्छकटिक); कंठे जग्राह (कथासरित्सागर)।

हिंदी में 'बालों को पकड़कर', 'गले को पकड़कर' आदि का प्रयोग मिलेगा; यहाँ अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग न मिलेगा। कबीर ने एक स्थान पर इसी अर्थ में करण-परसर्ग का प्रयोग किया है—
लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम भंडार। काल कंठ तैं गहैगा, रूँधै दसूँ दुवार (कबीर ग्रंथावली)।

चाहे कर्म-परसर्ग का प्रयोग हो और चाहे करण अथवा अधिकरण-परसर्ग का, अर्थ में कोई भिन्नता उपस्थित नहीं होती। सभी के

द्वारा यह व्यक्त होता है कि किसी वस्तु, अंग वा व्यक्ति को पकड़ा गया। सभी कारक-परसर्गों से ग्राह्य स्थान की व्यंजना होती है।

(उ) पैरों पर पड़ना वा गिरना संस्कृत तथा हिंदी दोनों में एक ही विभक्ति वा कारक-परसर्ग में प्रयुक्त होता है। संस्कृत का उदाहरण—पितुः पादयोः पतति (अभिज्ञानशाकुंतल)। हिंदी का उदाहरण—मैं आप के पैरों (पर) पड़ता हूँ, मुझे क्षमा कर दीजिए।

§ (१०२) **विषय-सप्तमी**—संस्कृत में 'विषय-सप्तमी' नाम से एक प्रयोग चलता है। इसके द्वारा किसी विषय में (वस्तु, स्थान आदि में) किसी व्यक्ति की रुचि-अरुचि, गुण-दोष, शक्ति-अशक्ति आदि का बोध होता है। विषय-सप्तमी के प्रयोग संस्कृत तथा हिंदी दोनों में समान रूप में ही चलते हैं। संस्कृत का उदाहरण—सर्वं संभाव्यमस्मिन्नसाध्यमपि साधयेत् (महाभारत); दृष्टदोषा मृगया स्वामिनि (अभिज्ञानशाकुंतल); आर्तानामुपदेशे न दोषः (प्रबोध-चंद्रोदय); आचचक्षेऽथ कुब्जायै महतीं राघवे श्रियम् (रामायण)। हिंदी का उदाहरण—गुण में गुण और दोष में दोष देखना विवेकी का काम है। निधाय दंडं भूतेसु तसेसु थावरेसु च। यो न हंति न घातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं (धम्मपदं); अथस्स भरिया बोधिसत्तस्स सरीरं दिस्वा तस्स हृदयमंसे दोहळं उप्पादेत्वा सामिकं आह (पालिपाठावलि)।

§ (१०३) **तुलनावाचक अधिकरण**—जो वस्तु वा व्यक्ति गुण-दोष आदि में किसी वस्तु वा व्यक्ति के समान वा बड़ा वा छोटा होता है उसके साथ सप्तमी के प्रयोग का चलन है। ऐसे स्थलों पर संस्कृत में प्रायः तृतीया तथा पंचमी के प्रयोग का प्रचार अधिक है। हिंदी में इसका उल्टा है, यहाँ ऐसे स्थलों पर अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग ही विशेषरूपेण चलता है। देखिए § २५ और § ६०। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस स्थिति में अधिकरण-परसर्ग प्रयुक्त

होकर भी प्रच्छन्न रूप से करण वा अपादान-परसर्ग का ही अर्थ व्यक्त करता है। संस्कृत का उदाहरण—समुद्र इव गांभीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव। विष्णुना सदृशो वीर्ये क्षमया पृथिवीसमः। धनदेनसमस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः (रामायण); प्रभुरग्निः प्रतपने भूमिरावपने प्रभुः। प्रभुः सूर्यः प्रकाशित्वे (महाभारत)। हिंदी का उदाहरण—कोमलता तथा मसृणता में उसके अंग पद्म-पंखुरियों को भी मात करते थे।

§ (१०४) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में गुण तथा दोषवाचक नामों (विशेषणों) के साथ षष्ठी तथा सप्तमी वा संबंध-परसर्ग तथा अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग प्रायः होता है। देखिए § ८५। इस अंक में हम षष्ठी वा संबंध परसर्ग का उदाहरण दे चुके हैं; अब सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग का उदाहरण देंगे। संस्कृत का उदाहरण—त्रयो होद्‌गीथे कुशला बभूवुः (छांदोग्योपनिषद्); रत्नादिष्वनभिज्ञस्य। हिंदी का उदाहरण—स्थिर, स्नेह-स्निग्ध है उसका उज्ज्वल दृष्टिपात, वह द्वंद्व ग्रंथि से मुक्त मानवी प्राकृत, नागरियों का नट रंग प्रणय उसको न ज्ञात, संमोहन, विभ्रम, अंग भंगिमा में अपठित (ग्राम्या)।

§ (१०५) संस्कृत में 'प्रसित' तथा 'उत्सुक' सप्तमी तथा तृतीया की आकांक्षा रखते हैं।[१] हिंदी में 'उत्सुक' शब्द प्रायः चलता है, 'प्रसित' नहीं, और इसके साथ यहाँ प्रायः संप्रदान-परसर्ग का प्रयोग प्रचलित है। संस्कृत का उदाहरण—निद्रायां निद्रया वा उत्सुकः (सिद्धांतकौमुदी), मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे (रघुवंश)। हिंदी का उदाहरण—आप प्रदर्शनी के लिये बहुत उत्सुक हैं।

संस्कृत में नियोजनबोधक विशेषण 'व्यापृत', 'आसक्त', 'व्यग्र', 'तत्पर' तथा गुणबोधक विशेषण 'कुशल', 'निपुण', 'शौंड',

१. प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च (अष्टाध्यायी, २।३।४४)।

'पटु', 'प्रवीण', 'पंडित' और अवगुणबोधक विशेषण 'धूर्त्त', 'कितव' आदि सप्तमी की आकांक्षा रखते हैं। देखिए § ८५। उपर्युक्त विशेषणों में से जितने हिंदी में प्रयुक्त होते हैं वे सभी प्रायः अधिकरण-परसर्ग की आकांक्षा रखते हैं। इनके साथ प्रसंगानुसार संबंध-परसर्ग का भी प्रयोग कभी-कभी होता है। इनका प्रयोग अति सामान्य है और अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

§ (१०६) **स्थिति तथा कालवाचक अधिकरण**—सामान्यरूपेण इसके द्वारा किसी वस्तु वा व्यक्ति का किसी स्थिति वा काल में पड़ना वा होना व्यक्त होता है। इस अधिकरण का प्रयोग संस्कृत तथा हिंदी दोनों में समान रूप में चलता है। इसका प्रयोग बहुत साधारण है, कोई विशेषता लक्षित नहीं होती। हम दोनों का अलग-अलग उदाहरण देंगे।

स्थितिवाचक अधिकरण—इस अधिकरण के दो रूप संमुख आते हैं, (क) एक वह जिसमें कोई व्यक्ति किसी सुख-दुःख में होता वा पड़ता है, और (ख) दूसरा वह जिसमें किसी व्यक्ति वा वस्तु से संबद्ध कोई घटना घटित होती है। इस दूसरे रूप में कभी-कभी स्थान की भी सूचना मिलती है।

(क) उदाहरण—पास जब आ न सकोगी, प्राण! **मधुरता में** सी मरी अजान, लाज की छुईमुई-सी म्लान, प्रिये, प्राणों की प्राण! (गुंजन); जग-जीवन में है सुख-दुख, सुख-दुख में है जग-जीवन (वही); उनका हृदय मनुष्य-प्रवर्तित **व्यापारों में पड़कर** इतना कुंठित हो गया है कि उसमें, उन सामान्य प्राकृतिक परिस्थितियों में, जिनमें अत्यंत आदिम काल में मनुष्य-जाति ने अपना जीवन व्यतीत किया था, तथा उन प्राचीन मानव-व्यापारों में, जिनमें वन्य दशा से निकलकर वह अपने निर्वाह और रक्षा के लिये लगी, लीन होने की वृत्ति दब गई (रामचंद्र शुक्ल)।

(ख) उदाहरण—संकटापन्न स्थिति में पुत्र की मृत्यु कोई असाधारण व्यक्ति सह ले, पर हम सांसारिकों के लिये तो यह असह्य ही होगी; गोरा युद्ध में लड़ते-लड़ते मरा था।

अंतिम उदाहरण में 'युद्ध में' द्वारा मरने की स्थिति तथा स्थान की भी सूचना मिलती है। युद्ध में=(१) युद्ध की स्थिति में, किसी अन्य स्थिति में नहीं; (२) युद्ध-स्थान, युद्ध किसी स्थान पर हुआ था। (इसके द्वारा 'युद्ध करते समय' की भी व्यंजना होती है)।

कालवाचक अधिकरण—सामान्यरूपेण इसके द्वारा 'किसी समय में वा पर' किसी कार्य वा घटना के घटित होने की व्यंजना होती है। संस्कृत तथा हिंदी दोनों में इसका प्रयोग समान है। हिंदी में कोई विकास नहीं हुआ।

संस्कृत का उदाहरण—आषाढ़स्य प्रथम दिवसे (मेघदूत); शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् (रघुवंश); हिंदी का उदाहरण—चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी (मुकुल); दुख-सुख की निशा-दिवा में सोता-जगता जग-जीवन (गुंजन); निकट भविष्य में दोनों ही अपनी-अपनी शक्ति खो बैठेंगे (चित्रलेखा)।

§ (१०७) **देश-काल का अंतरवाचक अधिकरण**—किसी स्थान वा समय (काल) से कोई स्थान वा समय कितने अंतर (दूरी) पर है, इसका बोध कराने के लिये संस्कृत में पंचमी तथा सप्तमी प्रयुक्त होती है।[१] पर, संस्कृत में ऐसे स्थलों पर पंचमी का प्रयोग विरल है, सप्तमी का प्रयोग ही अधिक चलता है। हिंदी में भी अधिकरण-परसर्ग का ही प्रयोग प्रचलित है। देखिए § ५४।

देश का अंतरवाचक अधिकरण—उदाहरण—इहस्थोऽयं

---

१. सप्तमी पंचम्यौ कारकमध्ये (अष्टाध्यायी, २।३।७)

क्रोशात्क्रोशे वा लक्ष्यं विध्येत् (सिद्धांतकौमुदी); सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः (ऐतरेय ब्राह्मण); इतो वसति···अध्यर्धयोजने महर्षिः (रामायण); इतः मे पष्ठियोजन्यां गृहम् (कथासरित्सागर)। हिंदी का उदाहरण—वह एक रेले में तट से कोई बीस गज तक आ गई (गबन) [गज तक = गज पर]; वाटिल्ली साहब की नील कोठी यहाँ से कितनी दूर है (तितली)।

ऐसे स्थलों पर हिंदी में कभी-कभी अधिकरण-परसर्ग का लोप कर देते हैं, जैसे, अंतिम उदाहरण में। इसके अतिरिक्त संस्कृत तथा हिंदी में यह नियम भी है कि जहाँ से जितनी दूरी पर कोई स्थान रहता है, उस स्थान के साथ सप्तमी तथा प्रथमा वा अधिकरण-परसर्ग तथा अपरसर्ग कर्त्ता का प्रयोग करते हैं। देखिए § ५४।

हिंदी में देश का अंतर सूचित कराने के लिये अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग तो स्पष्ट हैं। यहाँ इस अर्थ में अपादान-परसर्ग का प्रयोग भी हो सकता है और होता है। जैसे—'मैं यहाँ तांत्रिक प्रयोगों द्वारा हजारों कोसों से उन्हें पीड़ित कर सकता हूँ।' इस उदाहरण में पीड़क और पीड़ित होनेवाले में हजारों कोसों का अंतर है, जो अपादान-परसर्ग द्वारा व्यक्त किया गया है।

काल का अंतरसूचक अधिकरण—संस्कृत का उदाहरण—अस्मिन्दिने भुक्त्वाऽयं त्र्यहात् त्र्यहे वा भोक्ता (सिद्धांतकौमुदी)।

यद्यपि उपर्युक्त उदाहरण में पंचमी प्रयुक्त मिलेगी तथापि कालांतर वा अवधि सूचनार्थ संस्कृत में केवल सप्तमी प्रयुक्त मिलती है। देखिए § ५४। इस स्थल में हिंदी में भी केवल अधिकरण-परसर्ग के प्रयोग का चलन है—मैं आज से पाँच दिनों में काशी जाऊँगा।

§ (१०८) संस्कृत में 'शी' (लेटना), 'स्था' (खड़ा होना), और 'आस्' (बैठना) धातु जब 'अधि' उपसर्ग के साथ प्रयुक्त

होते हैं तब जिस स्थान पर उपर्युक्त क्रियाएँ होती हैं उसके साथ द्वितीया लगाई जाती है।[१] संस्कृत के ऐसे स्थलों की द्वितीया का विकास हिंदी में अधिकरण-परसर्ग के रूप में हुआ है। संस्कृत का उदाहरण—चंद्रापीडो मुक्ताशिलापट्टमधिशिश्ये (कादंबरी); अर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ (रघुवंश); अध्यास्य पर्णशालां (वही)।

हमने ऊपर कहा है कि इन क्रियाओं के साथ हिंदी में अधिकरण-परसर्ग प्रयुक्त होगा, कर्म-परसर्ग नहीं। जैसे—पलंग पर लेटा जाता है, पलंग को लेटा नहीं जाता। कोई चबूतरे पर खड़ा होता है, चबूतरे को खड़ा नहीं होता। इसी प्रकार दीवाल पर बैठा जाता है, दीवाल को बैठा नहीं जाता।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि ऐसे स्थलों पर संस्कृत की द्वितीया का विकास हिंदी के अधिकरण-परसर्ग में हुआ है।

§ (१०९) संस्कृत में वस् (रहना) धातु जब 'उप', 'अनु', 'अधि' और 'आ' उपसर्गों के साथ प्रयुक्त होता है तब वह द्वितीया की आकांक्षा रखता है।[२] ऐसे स्थलों पर भी हिंदी में अधिकरण-परसर्ग प्रयुक्त होता है। संस्कृत का उदाहरण—उप-अनु-अधि-आ-वसति वैकुंठं हरिः (सिद्धांतकौमुदी)।

हिंदी में 'राम वैकुंठ में बसते हैं वा निवास करते हैं' कहा जायगा, 'वैकुंठ को बसते वा निवास करते हैं' नहीं।

§ (११०) किन्हीं वस्तुओं वा व्यक्तियों में जब कोई वा कुछ को, उनमें किसी गुण वा दोष के कारण, समूह से भिन्न रखने वा करने का अर्थ व्यक्त होता है तब संस्कृत में समूह के साथ षष्ठी वा सप्तमी का प्रयोग होता है। देखिए § ७४ (ख)। वस्तुतः ऐसे स्थलों पर निर्धारण का अर्थ-बोध होता है। शिष्ट हिंदी में इस अर्थ

---

१. अधिशीङ्स्थासां कर्म (वही, १।४।४६)

२. उपान्वध्याङ्वसः (वही, १।४।४८)

में प्रायः अधिकरण-परसर्ग प्रयुक्त मिलता है। साधारणतः निर्धारण के अर्थ में दुहरे कारक-परसर्गों ('में से') का प्रयोग प्रचलित है। देखिए § ६३ (ब)। संस्कृत का उदाहरण—गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा (सिद्धांतकौमुदी); नृणां नृषु वा द्विजः श्रेष्ठः (वही)। हिंदी का उदाहरण—मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह बन आतप वाता। की तुम्ह तीनि **देव महँ** कोऊ। नर-नारायन की तुम्ह दोऊ। (रामचरितमानस)।

संस्कृत तथा हिंदी में भी निर्धारण के अर्थ में विशेषण के उच्चतम रूप के योग में सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग प्रचलित है। संस्कृत के उदाहरण के लिये उपर्युक्त (संस्कृत का) दूसरा प्रयोग देखना चाहिए। हिंदी का उदाहरण—ज्ञान, भक्ति और योग में भक्ति सरलतम है।

§ (१११) संस्कृत में मूल्यवाचक के लिये तृतीया प्रयुक्त होती है, हिंदी में ऐसे स्थलों की तृतीया का विकास अधिकरण-परसर्ग के रूप में हुआ है। और विवेचन तथा उदाहरण के लिये देखिए § २४।

इसी प्रकार कारण सूचित करने के लिये संस्कृत में तृतीया तथा पंचमी का प्रयोग मिलता है। हिंदी में भी करण-परसर्ग तथा अपादान-परसर्ग का प्रयोग कारणसूचक के अर्थ में होता है। हिंदी में कारणसूचक करण-परसर्ग के अर्थ में अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग अति प्रचलित है। उदाहरण के लिये देखिए § २७।

§ (११२) **अनुसरणबोधक अधिकरण**—इससे विशेषतः किसी व्यक्ति द्वारा किसी के स्वभाव, किसी की रीति-नीति, प्रतिज्ञा आदि के अनुसार उसका आचरण-बोध होता है। उदाहरण—कौवा हंस की चाल पर चला और अपनी चाल भी खो बैठा; अंत में जाओगे अपने मा-बाप पर ही; अपनी बात पर रहो, इधर उधर न करो।

प्रच्छन्नरूपेण इस अधिकरण द्वारा रीतिसूचक करण की व्यंजना होती है।

§ (११३) व्यवहार, लेन-देन वा व्यापार के क्षेत्र में रुपए 'पर' ब्याज लिया, दिया वा लगाया जाता है, ब्याज 'पर' भी रुपया दिया, लिया, लगाया वा उठाया जाता है। जैसे, पाँच सौ रुपयों पर दो सौ लिए-दिए-लगाए-बैठाए गए; हमने जिस ब्याज पर रुपए लिए वह तो देने ही पड़ेंगे (गोदान); मैंने पाँच रुपए सैकड़ा ब्याज पर दो लाख रुपए लिए-दिए-लगाए-उठाए हैं।

अदालतों में भी किसी 'पर' डिग्री हुआ करती है, यथा—बचा पर दो हजार की डिग्री करा दूँगा, नानी मर जायगी; उनपर पाँच सौ की डिग्री हो गई।

व्यवहार में जिसके यहाँ वा जिसपर रुपए निकलते हैं या आते हैं उसके साथ अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग होता है। जैसे—उनपर हमारे सात सौ रुपए हैं—बाकी हैं; गाँव में ऐसा कोई घर न था जिसपर उसके कुछ रुपए न आते हों, यहाँ तक कि झिंगुरीसिंह पर भी उसके बीस रुपए आते थे (गोदान); तुमपर मेरे पाँच पैसे निकलते हैं।

ऐसे स्थलों पर 'पर' का अर्थ 'यहाँ' होता है—तुमपर = तुम्हारे यहाँ।

बनारसी बोली में भी इस अर्थ में अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग प्रचलित है। जैसे—'ओन पर हमार कुछ न चाही।' यहाँ दुहरे कारक परसर्गों (संबंध-परसर्ग तथा अधिकरण-परसर्ग) का प्रयोग भी होता है—'ओन के पर हमार कुछ नाहीं बाकी हौ।'

§ (११४) किसी रोग 'पर' कोई दवा होती है—चलती है। जैसे, बुखार पर यह दवा हो वा चल सकती है।

किसी व्यक्ति वा जीव वा वस्तु 'पर' जादू-टोना होता है, चलता है और किया जाता है। जैसे, उसने मतई पर जादू-टोना किया-चलाया है; झींगुर पर उसकी भावज ने भूत कर दिया है।

§ (११५) किसी में परस्पर मेल, एकता तथा अनबन, विरोध आदि सूचित करने के लिये जिनके बीच में उपर्युक्त बातें होती हैं प्रायः उन दोनों के साथ अधिकरण-परसर्ग प्रयुक्त होता है, कभी-कभी दोनों में से किसी के साथ अधिकरण-परसर्ग का लोप भी हो जाता है। उदाहरण—हममें तुममें सदैव मेल रहा है और रहेगा; शंकर बौड़म में आजकल कुछ अनबन (झगड़ा) है।

§ (११६) **प्रतिनिधित्वबोधक अधिकरण**—इस अधिकरण द्वारा किसी वस्तु वा व्यक्ति के स्थान पर (पद आदि पर) किसी वस्तु वा व्यक्ति का होना, जाना, आना, काम करना आदि व्यंजित होता है। उदाहरण—इस समय वे नाना की गद्दी पर हैं (अर्थात् नाना की अनुपस्थिति में वे नाना का प्रतिनिधित्व करते हैं); आजकल मैं उनके स्थान पर काम करता हूँ (वे नहीं हैं, मैं उनका सारा काम देखता-भालता हूँ; मैं उनका प्रतिनिधि हूँ)।

§ (११७) **संप्रदान-परसर्ग के अर्थ में अधिकरण-परसर्ग**—संबंध कारक के प्रकरण के अंत में हमने देखा है कि संप्रदान परसर्ग और अपादान-परसर्ग के स्थान पर संबंध-परसर्ग का प्रयोग हिंदी में परंपराप्राप्त है। इसी प्रकार संप्रदान-परसर्ग के अर्थ में अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग भी संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से होता हुआ हिंदी में आया है, यह भी परंपराप्राप्त है। देखिए § ४५ (ख)। नीचे हम इसके कुछ विशिष्ट प्रयोगों के विकास पर विचार करेंगे।

यह तो स्पष्ट है कि संस्कृत तथा हिंदी दोनों में 'रखना', 'छोड़ना', 'डालना' आदि क्रियाओं के साथ सप्तमी वा अधिकरण-

परसर्ग का प्रयोग प्रचलित है। इन क्रियाओं के प्रयोग का क्षेत्र कुछ विस्तृत करके इनको लाक्षणिक अर्थों में भी प्रयुक्त किया जाता है। और इस अवस्था में ये सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग में प्रयुक्त होकर भी कभी-कभी चतुर्थी वा संप्रदान-परसर्ग तथा षष्ठी वा संबंध-परसर्ग का अर्थ-बोध कराती हैं।

संस्कृत में देना, प्रतिज्ञा करना, क्रय-विक्रय करना, कहना आदि के गौण कर्म के साथ सप्तमी प्रयुक्त होती है और यह चतुर्थी का अर्थ व्यक्त करती है। खड़ी बोली हिंदी में इन क्रियाओं के योग में अधिकरण-परसर्ग के प्रयोग का प्रचलन संप्रदान-परसर्ग के अर्थ में लाक्षणिक रूप में भी नहीं है। हाँ, व्रजभाषा तथा अवधी आदि में ऐसा प्रयोग इस अर्थ में प्राप्त है। संस्कृत का उदाहरण देकर उसकी तुलना हिंदी से कर लेने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी। संस्कृत का उदाहरण—संप्रदानं सुतायास्तु राघवे कर्तुमिच्छति (रामायण); सहस्राक्षे प्रतिज्ञाय (वही); शरीरं विक्रीय धनवति (मुद्राराक्षस)।

उपर्युक्त संस्कृत के उदाहरणों को यदि अधिकरण-परसर्ग में रखें तो ज्ञात होगा कि वे संप्रदान-परसर्ग का अर्थ नहीं व्यक्त करते। 'राघव पर वा में कन्यादान करने की इच्छा करता है' का प्रयोग हिंदी में नहीं होगा, ऐसे स्थलों पर संप्रदान परसर्ग के प्रयोग का ही प्रचलन है। इसी प्रकार संस्कृत के उपर्युक्त सभी उदाहरणों को हिंदी-रूप देकर हम ज्ञात कर सकते हैं कि उनका प्रयोग हिंदी में संप्रदान-परसर्ग के ही रूप में करके अभीष्ट अर्थ-लाभ किया जा सकता है।

हमने ऊपर कहा है कि संप्रदान-परसर्ग के अर्थ में अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग व्रजभाषा तथा अवधी आदि में चलता है, यथा, दियो लोटो टारि प्रभु पै, भयो परम निहाल (बुद्धचरित)। प्रभु पै=प्रभु के लिये।

§ (११८) हिंदी में प्राण देना, मरना, लगना, लगाना, ममता करना, रखना (रेहन आदि) आदि क्रियाओं के साथ जब अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग लाक्षणिक अर्थों में होता है तब यह संप्रदान-परसर्ग का अर्थ-बोध कराता है। उदाहरण—किसी काम पर प्राण देने से तो वह पूरा नहीं हो जाता! ऐसे दीपक पर तो कितने ही पतंग मरा करते हैं; श्यामा-सदन पर वा॰ में मैं हजारों रुपए लगाऊँगा (इसके बनवाने में = बनवाने के लिये); इस पुस्तक पर मैंने पाँच रुपए लगा दिए हैं (इस पुस्तक के लिये दाम पाँच रुपए लगा दिए हैं); इस हार को पाँच सौ पर रख लो (पाँच सौ के लिये रेहन रख लो); उजियाला जिसका दीपक में, तुझ में भी है वह चिनगारी; अपनी ज्वाला देख, अन्य की ज्वाला पर इतनी ममता क्यों (नीरजा); वह अपनी लज्जा और गरिमा को, जो उसकी सबसे बड़ी विभूति थी, चंचलता और आमोद-प्रमोद पर होम कर रही है (गोदान)।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों के देखने से ज्ञात होता है कि ये अधिकरण-परसर्ग में प्रयुक्त तो हुए हैं, पर अर्थ संप्रदान-परसर्ग का देते हैं।

§ (११९) संस्कृत तथा हिंदी में भी चतुर्थी वा संप्रदान-परसर्ग के अर्थ में सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग (अ) अनिश्चय-वाचक, प्रयत्नवाचक, इच्छावाचक आदि क्रियाओं वा शब्दों; (आ) स्थापित करना, आज्ञा देना, नियुक्त करना आदि क्रियाओं तथा (इ) योग्य, उपयुक्त तथा इनके पर्यायवाची शब्दों के योग में होता है। ऐसी अवस्था में चतुर्थी वा संप्रदान-परसर्ग का रूप प्रायः क्रियार्था संज्ञा के समान होता है।

(अ) संस्कृत का उदाहरण—सर्वस्व हरणे युक्तं शत्रु ... तोषयन्त्यल्पदानेन (पंचतंत्र); महात्त्वारोपणे यत्नः (मालतीमाधव); दहने बुद्धिमकारयत् (महाभारत); वेगं प्रचक्रतुर्बधे तस्य (रामायण)।

हिंदी का उदाहरण—सुख की ही उपलब्धि में प्रयत्नशील जीवन एकांगी कहा जा सकता है; वह उसे मार डालने पर तुला है; थानेदार साहब बदमासी में उसका चालान करनेवाले थे (गोदान); तुम्हें दंड का अधिकार मुझे सौंपा गया है और मैं तुमको दंड देने पर तुली हुई हूँ (चित्रलेखा)।

(आ) संस्कृत का उदाहरण—कर्मणि न्ययुङ्क्त; इमां वल्कल-धारणे नियुङ्क्ते (अभिज्ञान शाकुंतल); स राजा मल्लस्य युद्धे तस्य समादिशत्……तम् (कथासरित्सागर); अनुज्ञा त्वत्पार्श्वगमने (वही); तं यौवराज्येऽभिषिक्तवान् (पंचतंत्र)।

हिंदी का उदाहरण—शोभा को किसी काम पर लगा दो, नहीं तो वह बहेतू हो जायगा; जमादार को कुछ दे-दिलाकर इस बात पर राजी कर लूँगा कि रुपए के लिये हमें खूब दौड़ाए (गोदान); इस विषय में उनकी अनुमति आवश्यक है।

(इ) संस्कृत का उदाहरण—भवान् शक्तः परिरक्षणे (रामायण); असमर्थोऽयमुदरपूरणेऽस्माकम् (पंचतंत्र)।

हिंदी का उदाहरण—आप परिरक्षण में समर्थ हैं; शिक्षण कला में वह योग्य है।

§ (१२०) **निमित्त सप्तमी**—संस्कृत में निमित्त सप्तमी अत्यंत विशिष्ट प्रयोग माना जाता है। चतुर्थी वा संप्रदान-परसर्ग के अर्थ में सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग के प्रयोग पर अबतक हमने जो विचार किया है उसे भी किसी न किसी रूप में हम निमित्त सप्तमी के अंतर्गत रख सकते हैं।

निमित्त सप्तमी का सामान्य अर्थ है किसी के निमित्त, हेतु वा लिये किसी कार्य का घटित होना।

निमित्तार्थ (संप्रदान के लिये) सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग क्यों होता है, तनिक यह स्पष्ट हो जाना चाहिए। अधि-

करण के प्रकरण के आरंभ में ही हमने देखा है कि इसका प्रधान उद्देश्य स्थान का बोध कराना है; या यों कहें कि प्रायः किसी स्थान की ओर किसी क्रिया वा गति को सूचित कराना है। 'इंदु राजभवन में जाता है' से यह व्यंजना होती है कि वह वहाँ जाता है और किसी कार्य के लिये वा निमित्त जाता है, अर्थात् किसी कार्यवश जाता है। इस प्रकार हमने देखा कि निमित्त सप्तमी का प्रयोग सकारण वा साभिप्राय होता है।

निमित्त सप्तमी के प्रयोग की परंपरा संस्कृत से हिंदी में भी आई है।

संस्कृत का उदाहरण—चर्मणि द्वीपिनं हंति दंतयोर्हंति कुंजरं। केशेषु चमरीं हंति सीम्नि पुष्कलो हतः (काशिकावृत्ति); क्षेत्रे विवदंते (वही); युक्तमिदं स्वामिनो निजभृत्येषु (पंचतंत्र); हिंदी का उदाहरण—मानव की लज्जा लुटती है टुकड़े के दानों पर (दानों पर= दानों के लिये); तनिक-सी बात पर वे बिगड़ खड़े हुए (बात पर= बात के लिये); इसी मकान पर तो मुकदमा चल रहा है (मकान पर=मकान के लिये)।

§ (१२१) संस्कृत में सौहृद, भक्ति, वैर, अभिलाष, आदर, अनादर, अनुक्रोश, अवज्ञा, कृपा, विश्वास आदि नामों के साथ निमित्त सप्तमी का प्रयोग कभी-कभी चलता है। इनके स्थान पर षष्ठी का प्रयोग विशेषरूपेण प्रचलित है। हिंदी में भी ऐसे स्थलों पर ऐसा प्रयोग चलता है।

संस्कृत का उदाहरण—तस्योदारके वैरमभ्यवर्धयत् (दशकुमारचरित); अर्हसि कृपां कर्तुं मयि (महाभारत); अस्यामभिलाषि मे मनः (अभिज्ञान शाकुंतल) कथं त्वयि विश्वासः (हितोपदेश); महाधनुषि जिज्ञासा (रामायण); न च लघुष्वपि कर्त्तव्येषु धीमद्भिरनादरः कार्यं (पंचतंत्र)।

हिंदी का उदाहरण—अपनी विवशता पर उसे क्रोध आता था, और वही क्रोध पानी बनकर आँखों की राह टपक पड़ता था (शेष स्मृतियाँ); जापर कृपा राम कर होई। तापर कृपा करहिं सब कोई (रामचरितमानस); जो प्रसन्न प्रभु मोपर, नाथ दीन पर नेहु। निज पद भगति देइ प्रभु, पुनि दूसर वर देहु (वही)।

उपर्युक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि ये प्रयोग विषय सप्तमी के समान ही हैं। देखिए § १०२।

§ (१२२) संस्कृत में किसी के प्रति वा पर आचरण व्यक्त करने के अर्थ में निमित्त सप्तमी प्रयुक्त होती है। इस स्थिति में यह (निमित्त सप्तमी) प्रायः निपात 'प्रति' की व्यंजना करती है। हिंदी में भी यह प्रयोग प्राप्त है। पर, यहाँ बहुधा नाम के साथ शुद्ध अधिकरण-परसर्ग न प्रयुक्त होकर उसका अर्थ-बोधक 'के प्रति', 'की ओर' लगाया जाता है।

संस्कृत का उदाहरण—प्रतिनिवृत्तो युष्मासु यथार्हं प्रतिपत्स्ये (दशकुमारचरित), कथं यथा वयमस्यामियमप्यस्मान्प्रति स्यात् (अभिज्ञान शाकुंतल); उपकारिषु यः साधुः साधत्वे तस्य को गुणः। अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते (पंचतंत्र); भव दक्षिणा परिजने (अभिज्ञान शाकुंतल)।

हिंदी का उदाहरण—'जो केवल अपने उपकारिकों के प्रति ही साधु है उसकी साधुता में क्या विशेषता' (उपकारियों के प्रति = उपकारियों पर = उपकारियों के लिये)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चतुर्थी वा संप्रदान-परसर्ग के अर्थ में सप्तमी वा अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग बड़े व्यापक रूप में चलता है। देखिए § ११७ से १२२ तक।

§ (१२३) **कारक-परसर्ग व्यत्यय—(क) अधिकरण-परसर्ग के स्थान पर कर्म-परसर्ग—**

(१) दोनों ही अपने अपने **भाग्य को** रो रही थीं (गोदान)।

यहाँ अधिकरण-परसर्ग तथा कर्म-परसर्ग दोनों का प्रयोग प्राप्त है। 'भाग्य पर' भी ठीक प्रयोग माना जाता है।

(२) रोओगे तो तुम्हारे **पुरुषत्व पर** धक्का लगेगा (जनमेजय का नागयज्ञ)।

ऐसे स्थलों पर कर्म-परसर्ग का प्रयोग भी बहुत होता है। वस्तुतः बात यह है कि ऐसे प्रयोगों में किसी न किसी रूप में स्थान की व्यंजना होती है और स्थान-बोध के लिये कर्म-परसर्ग तथा अधिकरण-परसर्ग दोनों प्रयुक्त होते हैं; इसलिये इन दोनों कारक-परसर्गों का प्रयोग इस अर्थ में समान रूप से होता है।

(३) अच्छी घड़ी, सुभ महूरत सोच् के तुम्हारी ससुराल में किसी ब्राह्मण को भेजते हैं (रानी केतकी की कहानी)।

ऐसे स्थलों पर कर्म-परसर्ग का प्रयोग भी प्रचलित है। दोनों संस्कृत की परंपरा से प्राप्त हैं, और स्थान सूचित करते हैं। पर, कहीं-कहीं इनके प्रयोग में अर्थ-भेद लक्षित होता है। कर्म-परसर्ग द्वारा दूरत्व तथा अधिकरण-परसर्ग द्वारा निकटत्व सूचित होता है, यथा, 'मैं सेवा-उपवन में गया' और 'मैं नागरीप्रचारिणी सभा को गया।' 'सेवा-उपवन में' से यह व्यंजित होता है कि ठीक वहीं मैं गया हूँ और अनिवार्य कार्यवश गमन क्रिया हुई है, अर्थात् इसके द्वारा निकटत्व तथा अनिवार्यत्व बोध होता है। 'सभा को' से यह ध्वनित होता है कि उसे देखने या और किसी कार्यवश गमन हुआ, यह अनिवार्यत्व सूचित नहीं करता। इसके द्वारा उल्लिखित स्थान के आस-पास की भूमि से भी तात्पर्य हो सकता है। इस प्रकार इससे दूरत्व का बोध होता है।

हमने ऊपर कहा है कि इनमें अर्थ-भेद कहीं-कहीं होता है। 'रानी केतकी की कहानी' के उदाहरण में यह अर्थ-भेद माना भी

जा सकता है और नहीं भी माना जा सकता। यहाँ प्रसंगानुसार 'ससुराल में' तथा 'ससुराल को' के अर्थ में कोई अंतर उपस्थित नहीं होता।

(ख) अधिकरण-परसर्ग के स्थान पर करण-परसर्ग—(१) भारत के समाचार भारत ही में निकलते हैं और इस देश की बातों से इतने शून्य होते हैं कि उन्हें भारत के पत्र **कहने से भी लज्जा** आती है (गुप्त-निबंधावली); उर्दू पत्रों में बहुत कम ऐसे हैं जो अपने **पावों से** खड़े हो सकते हैं (वही); वृक्षों पर हर तरह के पक्षी **मीठे मीठे सुरों से** चहचहा रहे थे (परीक्षागुरु); और मदनमोहन भी उसपर पिता की कृपा देखकर **भीतर से जलता था**, (वही)। चौहटै च्यंतामणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि। मीरां **मुझसूं** मिहर करि, इब मिलौं न काहू साथि (कबीर ग्रंथावली); जो कुछ **कहने से** सोच करते हो, अभी लिख भेजो (रानी केतकी की कहानी); महाशय वही है जो दूसरों की **बड़ाई से** अपनी बड़ाई समझे (सत्य हरिश्चंद्र नाटक); ढोल्ला मइं तुहुं वारिया मा कुरु दीहा माणु। **निद्दएं** गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु (पुरानी हिंदी); अगलिअ-नेह-निवट्टाहं जे अण-लक्खुवि जाउ। **वरिस-सएण** वि जो मिलइ सहि सोक्खहँ सो ठाउ (वही); तुम्हेहिं अम्हेहिं जे किअउं दिट्ठउं बहुअ जणेण। तं तेवड्डउ समर भर निज्जुअ एक्क-खणेण (वही); तुम्हारे **दरबार से** इसका फैसला होना चाहिए (गोदान); फिर और **काम से** लगेगा (सुनीता); किर खाइ न पिअइ न वि द्दवइ धम्मि न वेच्चइ रुअडउ। इह किवणु न जाणइ जह जम्महो **खणेण** पहुच्चइ दूअडउ (पुरानी हिंदी); **अंसुजलें** प्राइंब गोरिअहे सहि उब्वता नयण सर। तें संमुह' संपेसिआ देंति तिरिच्छी घत्त पर (वही); हम दोनों ने इस अँगूठी और लिखवत को अपनी **आँखों से** मला (रानी केतकी की कहानी)।

उल्लिखित उदाहरणों में प्रायः स्थल ऐसे हैं जहाँ करण-परसर्ग तथा अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग वैकल्पिक है।

(२) चित्रों का, जो लेखक ने अपने इस बुतखाने में रखे हैं, वर्णन तो इस लेख में हो नहीं सकता परंतु जितना हो सकता है उतना **संक्षेप से** अर्पण करता हूँ (निबंध-रत्नावली)।

ऐसे स्थलों पर अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग भी प्रचलित है; पर यहाँ करण-परसर्ग तथा अधिकरण-परसर्ग के अर्थ में कुछ भेद लक्षित होता है। अधिकरण-परसर्ग द्वारा यह व्यंजित होता है कि जो कुछ है सभी का वर्णन संक्षेप में कर देता हूँ; और करण-परसर्ग द्वारा यह लक्षित होता है कि जो कुछ है उसका वर्णन संक्षेप की पद्धति—शैली—से कर देता हूँ।

(ग) अधिकरण-परसर्ग के स्थान पर संप्रदान-परसर्ग— दीन गरीबी **दीन कौं, दूंदर कौं** अभिमान। दूंदर दिल विष सूं भरा, दीन गरीबी राम (कबीर ग्रंथावली); अंध भूतो अयं लोको तनुकेथ विपस्सति। सकुंतो जाल मुत्तो' व अप्पो **सग्गाय** गच्छति (धम्मपदं); सारा गाँव खड़ी ऊख **बेचने को** तैयार हो गया (गोदान)।

अंतिम दो उदाहरणों में अधिकरण-परसर्ग तथा संप्रदान-परसर्ग का प्रयोग वैकल्पिक समझना चाहिए।

(घ) अधिकरण-परसर्ग के स्थान पर अपादान-परसर्ग— कुछ भी उसके **जी से** दया न उपजी। (नासिकेतोपाख्यान) उनकी प्रत्यक्ष हानि-लाभ का भेद मनुष्य की तुच्छ **बुद्धि से** आवो अथवा न आवो उनका अहित कोई नहीं कर सकता (प्रह्लादचरित्र)।

प्रथम उदाहरण में अपादान-परसर्ग तथा अधिकरण-परसर्ग का प्रयोग वैकल्पिक समझना चाहिए।

द्वितीय उदाहरण में यदि 'बुद्धि से' का अर्थ यह लिया जाय कि बुद्धि द्वारा मीमांसा वा विचार करने से आए वा न आए तो यह

करण-परसर्ग का अर्थ बोध कराएगा, अन्यथा इसका साधारण अर्थ लेने पर इसे अधिकरण-परसर्ग के अर्थ में प्रयुक्त समझना चाहिए।

(ङ) **अधिकरण-परसर्ग के स्थान पर संबंध-परसर्ग**—हमने इसे कई स्थलों पर सूचित किया है कि संबंध-परसर्ग तथा अधिकरण-परसर्ग के प्रयोगों में प्रायः विनिमय चलता है, अधिकरण-परसर्ग के स्थान पर संबंध-परसर्ग तथा संबंध-परसर्ग के स्थान पर अधिकरण-परसर्ग बहुधा प्रयुक्त होता है, और ऐसा होने पर भी अर्थ में कोई अंतर उपस्थित नहीं होता। निम्नलिखित सभी उदाहरणों में यह बात लक्षित होगी।

नहीं; इन बातों मैं से अभी तो किसी बात पर दृष्टि नहीं पहुँचाई गई परंतु इन **बातों का** क्या है (परीक्षागुरु); लेनदारों को अपनी रकम के **पटने का** संदेह तो पहले ही हो गया था (वही); छिपा रही थी मुख शशि-बाला **निशि के** श्रम से हो श्रीहीन (वीणा); इन **बातों का** किसी ने विचार किया है ? (परीक्षागुरु); क्योंकि **बन के** बसनेवाले तपस्वियों को इनसे क्या काज (नासिकेतोपाख्यान); हमैं **नंदनँदन** को गारों। इंद्रकोप ब्रज बह्यो जात हो, गिरि धरि सकल उबारो (भ्रमरगीतसार); कंतु महारउ हलि सहिए निच्छइं रूसइ **जासु**। अत्थिहिं सत्थिहिं हत्थिहिं विठाउवि फेडइ तासु (पुरानी हिंदी); महु कंतहो गुट्ठट्ठिअहो कउ झुंपडा वलंति। अह रिउरुहिरें ल्हवइ अह अप्पणें न भंति (वही); पिय संगमि कउ निद्दडी **पिअहो परोक्खहो** केंब। मइँ विन्नवि निन्नासिआ निद्द न एंब न तेंब (वही); कुंजरु **अंनहं तरुअरहं** कुड्डेण घल्लइ हत्थु। मणु पुणु एक्कहिं सल्लइहिं जइ पुच्छह परमत्थु (वही); आज श्यामसुंदर न हुआ नहीं तो तुम्हारे **रूप और गुण दोनों की** बलिहारी होता (श्यामास्वप्न); संदेसें काइं तुहारेण जे **संगहो न** मिलिज्जइ। सुइणंतरि पिएं पाणिएण पिअ पिआस किं छिज्जइ (पुरानी हिंदी); पाइ विलग्गी अंत्रडी सिरु

ल्हासिउं **खंधस्सु** । तो वि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउँ कंतस्सु (वही); अप्पमादेन मघवा **देवानं** सेट्ठतं गतो। अप्पमादं पसंसंति पमादो गरहितो सदा (धम्मपदं), असाहसेन धम्मेन समेन नयती परे। **धम्मस्स गुत्तो** मेधावी धम्मट्ठो' ति पवुच्चति (वही)।

(च) **अधिकरण का परसर्ग**—(१) यह हमें विदित है कि खड़ी बोली हिंदी में अधिकरण का परसर्ग 'में' और 'पर' है। अवधी तथा व्रज में 'पर' के लिये 'पै' भी आता है। महाकवि सूरदास ने 'पै' (=पर) के स्थान पर 'प्रति' का भी प्रयोग किया है—कन्हैया नितत **फन प्रति** ऐसे। मनो गिरिवर पर बादर देखत मोर अनंदत जैसे। प्रति=पर।

(२) व्रज तथा अवधी में अधिकरण के परसर्ग 'पै' का प्रयोग 'पास' के अर्थ में भी मिलता है—हौं **तुम पै** व्रजनाथ पठायो। आतम ज्ञान सिखावन आयो (भ्रमरगीतसार)। तुम पै=तुम्हारे पास। यह 'पै' 'प्रति' का अपभ्रष्ट रूप है।

(३) 'पर' के स्थान पर 'सिर' का प्रयोग भी प्राचीन कवियों में मिलता है, यथा, **समुद सिर** सिषर उच्छाह छाहं। रचित मंडपं तोरनं श्रीयगाहं (पृथ्वीराज रासो)। तुलसीदास ने भी 'सिर' का प्रयोग अधिकरण के परसर्ग के रूप में किया है—लछमन कहीं **समय सिर** बाता। समय सिर= समय पर, समय के अनुसार।

(४) संबंध कारक के प्रकरण में हमने देखा है कि अपभ्रंश के संबंध कारक की विभक्ति 'ह' हिंदी में वर्त्तमान है। इसी प्रकार अपभ्रंश के अधिकरण की विभक्ति 'इ' भी हिंदी के प्राचीन कवियों वा लेखकों में प्राप्त होती है। कबीर में यह प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। जैसे—कबीर इस संसार का, झूठा माया मोह। **जिहि घरि** जिता बंधावणा, **तिहिं घरि** तिता अँदोह (कबीर ग्रंथावली);

इही उदर कै कारणैं, जग जाँच्यौ निसि जाम। स्वामी-पणौ जु **सिरि** चढ्यो, सर्‌या न एको काम (वही)।

'घरि' और 'सिरि' में अधिकरण की विभक्ति 'इ' स्पष्ट है।

(छ) **अधिकरण-परसर्ग का लोप**—(१) नित्य प्रति की बोलचाल में तथा साहित्यारूढ़ भाषा में भी अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ अधिकरण के परसर्ग का लोप कर दिया जाता है। कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ इसका प्रयोग वैकल्पिक है। हम नीचे दो-चार उदाहरण देते हैं—

रनथंभौर का किला भी उसके **हाथ** आ गया (इतिहास तिमिर नाशक); सफलता समय के **हाथ** है (गुप्त निबंधावली); विजय **तुम्हारे हाथ** भाइयो, सफल हुए अब देर नहीं (त्रिशूल); अब तुम **मुँह** चढ़ते हो, तुम्हें भी देखूँगा (आजादकथा); ऐसे ही लोगों के **बूते** संसार टिका हुआ है (कुंडलीचक्र); सुनीता तुले शब्दों में बोली—मैं बैठूँगी नहीं, यह चिट्ठी कल **दोपहर** आ गई थी (सुनीता); उस **रात** चित्रलेखा सो न सकी (चित्रलेखा); सारे अस्तबल की बला अपने **सिर** लिए रहता है (दुर्लभ बंधु); हम नहीं देते इन **दामों** (गोदान)।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में नित्य व्यवहार की भाषा में प्रायः अधिकरण के परसर्ग का लोप रहता है।

इस लोप के अनेक उदाहरण मिलते हैं, अधिक उदाहरण देने की हम आवश्यकता नहीं समझते।

(२) दिल्ली तथा मेरठ के नवीन तथा प्राचीन दोनों लेखकों में कालवाचक प्रायः 'जितने', 'इतने' आदि के योग में अधिकरण के परसर्ग 'में' का लोप रहता है; यथा—

और सब बातों सै वाकिफ होने का विचार किया तो वाकिफ होंगे **जितनें** आप के बदले काम कौन करेगा (परीक्षा गुरु); प्यारी

आवे **जितनें** पुष्पों का हार बना लूँ (तप्तासंवरण); सुनीता ने कहा—अच्छा चल मैं आई। तू **इतने** परोस के रख (सुनीता); मुँह से तो यह कहा—कपड़े बदल लो, भूखे होगे। मैं **इतने** कुछ लाती हूँ (वही)।

ये उदाहरण लाला श्रीनिवासदास तथा श्री जैनेंद्रकुमार के ग्रंथों से उद्धृत किए गए हैं। इनमें सर्वत्र 'जितने', 'इतने' आदि के आगे 'में' का लोप मिलता है। इसके द्वारा यह ज्ञात होता है कि ऐसे स्थलों पर प्रयोग की प्राचीन परंपरा अबतक प्रचलित है, इसमें कोई विकास नहीं हुआ। पर, इससे पछाँही लेखकों की कुछ विशिष्टता भी लक्षित होती है।

(ज) प्राचीन लेखकों में अधिकरण-परसर्ग के कुछ ऐसे प्रयोग प्राप्त होते हैं जैसे प्रयोग आजकल के लेखक करना भला न समझेंगे। जैसे—इन **दिनों में** कुछ उसके तेवर और बेडौल आँखें दिखाई देती हैं (रानी केतकी की कहानी); जब कुमति आ घेरती है तब कैसहू कोई ज्ञानी होय, ज्ञान **ठिकाने में** नहीं रहता (नासिकेतोपाख्यान)।

आजकल के लेखक ऐसे स्थलों पर 'ठिकाने में' तथा 'दिनों में' न लिखकर 'ठिकाने' तथा 'दिनों' लिखना ही अच्छा समझेंगे।

(झ) **'में' तथा 'पर' का प्रयोग-व्यत्यय**—कभी-कभी ऐसा होता है कि 'में' के स्थान पर 'पर' और 'पर' के स्थान पर 'में' प्रयुक्त हो जाता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि ये एक ही कारक के परसर्ग हैं; पर इनके अर्थ में बड़ा अंतर है। 'में' भीतर (विदिन) की व्यंजना करता है और 'पर' ऊपर (अपॉन, ऑन) की। उदाहरण—खेद है कि फारस की उस महफिली शायरी का कुसंस्कार भारतीयों के **हृदय में** भी इधर बहुत दिनों से जम रहा है (रामचंद्र शुक्ल); रस-संचार से आगे बढ़ने पर हम काव्य की उस **उच्चभूमि में**

पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में ही न दिखाई देकर जीवन-व्यापी रूप में दिखाई पड़ते हैं (गोस्वामी तुलसीदास); मोहन **मथुरा पै** बसैं, व्रज पठयो जोग सँदेश (भ्रमरगीतसार)।

'हृदय में' 'उच्च भूमि में' और 'मथुरा पै' के 'में' और 'पै' के स्थान पर यदि क्रमशः 'पर' और 'में' होते तो वे अधिक उपयुक्त जान पड़ते।

[१०]

संबोधन कारक

§ (१२४) संस्कृत वैयाकरणों ने संबोधन का नामोल्लेख कारक-श्रेणी में नहीं किया है, इसका संकेत हमने § ६ में किया है। पर, वहाँ 'संबोधन-पद' का संबंध 'क्रिया-पद' से इसलिये माना जाता है कि निघात स्वर अर्थात् अनुदात्त स्वर की स्थापना हो सके।[1] जैसे, 'राम, मैं जाऊँ' वाक्य में जब हम 'राम' शब्द पर पूर्ण बल देकर आदेश वा आज्ञा लेने के भाव से बोलते हैं तब 'जाऊँ' क्रिया का लगाव किसी न किसी प्रकार से 'राम' शब्द (नाम) से हो जाता है; गमन क्रिया 'राम' के आदेश की अपेक्षा रखने लगती है।

इस अत्यल्प विवेचन से यह विदितहो ता है कि संस्कृत में भी संबोधन की स्थिति है, और वह एक प्रकार से कारक का-सा ही रूप लिए हुए है।

संबोधन में प्रथमा विभक्ति होती है।

हिंदी में तो संबोधन एक कारक माना ही जाता है और इसका स्वरूप वैसा ही है जैसा संस्कृत में संबोधन-पद तथा क्रियापद का संबंध माना जाता है। यहाँ इसका प्रयोग किसी को सचेत करने, समझाने, पुकारने आदि के अर्थों में होता है। उदाहरण—कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए (नवीन); मोटे आदमियो ! तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अंदेसे से

---

१. संबोधन पदं यच्च तत्क्रियायां विशेषणम्।
व्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति ॥ —वाक्यपदीय।

ही सही—तो न जाने कितनी ठटरियों पर मांस चढ़ जाता (चिंतामणि)।

हिंदी में संबोधित नाम जब बहुवचन में आता है तब उसपर का अनुनासिक चिह्न हटा दिया जाता है, यह बात उपर्युक्त द्वितीय उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी।

§ (१२५) जिस नाम को संबोधित किया जाता है उसके पूर्व वा पश्चात् कभी-कभी कोई संबोधनबोधक अव्यय प्रयुक्त होता है। उदाहरण—**रे मन,** आज परीक्षा तेरी। विनती करती हूँ मैं तुझसे, बात न बिगड़े मेरी (यशोधरा); आज्ञा लूँ या दूँ मैं अकाम ? **ओ क्षणभंगुर भव,** राम राम! (वही); तू कौन है **रे** (महात्मा ईसा)।

हिंदी के प्राचीन कवि अपनी कविता में प्रायः अपना नाम लाते हैं, जो कभी-कभी संबोधन कारक में रखा मिलता है। जैसे—**रहिमन,** चुप ह्वै बैठिए, देख दिनन को फेर। जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहै देर।

[११]

स्वतंत्र कारक

§ (१२६) वाक्य-रचना में स्वतंत्र कारकों (ऐब्सोल्यूट केसेज) का विनियोग अपना उपज्ञात वैशिष्ट्य रखता है। इसका प्रयोग नवीन तथा प्राचीन सभी समृद्धिशाली भाषाओं में होता है, इसे हम आगे देखेंगे।

किसी संयुक्त वाक्य में जब कृदंत शब्द मुख्य क्रिया के कर्त्ता से भिन्न किसी अन्य कर्त्ता के साथ लिंग-वचन की समानता में प्रयुक्त रहता है तब उस कृदंतघटित वाक्य-खंड को स्वतंत्र अंश की अभिधा दी जाती है और उसके अन्वयी कारक को स्वतंत्र कारक कहते हैं।[१] स्वतंत्र कारक के प्रयोगवाला वाक्य वा वाक्य-खंड (फ्रेज) आश्रित वाक्य रहता है, और यद्यपि इसका संबंध प्रधान वाक्य से अर्थदृष्ट्या तो होता ही है तथापि रचना (विन्यास) की दृष्टि से यह उससे विच्छिन्न होता है। स्वतंत्र कारक के वाक्य-विन्यास को यों और स्पष्ट किया जा सकता है कि जब आश्रित वाक्य के कर्त्ता के न नाम (संज्ञा) का और न उसके सर्वनाम का ही उल्लेख प्रधान वाक्य में होता है तब उसे स्वतंत्र कारक की वाक्य-योजना कहते हैं। यथा, 'पिता के न रहने पर तुम पछताओगे' वाक्य में स्वतंत्र कारक के प्रयोगवाले आश्रित वाक्य 'पिता के न रहने पर' के कर्त्ता के न नाम और न सर्वनाम का ही उल्लेख प्रधान वाक्य में हुआ है, यद्यपि

---

१. When the participle agrees with a subject, different from the subject of the verb, the phrase is said to be in the Absolute construction.

—Bain.

दोनों वाक्यों का अर्थ एक साथ लेने पर ही वक्ता के अभीप्सित अर्थ का बोध होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतंत्र कारक का प्रयोग स्वतंत्र रूप में ही होता है, और इसी कारण इसकी अभिधा भी ऐसी ही है।

हमने ऊपर इसका संकेत किया है कि विभिन्न समृद्धिशाली भाषाओं में स्वतंत्र कारकों का प्रयोग चलता है। यूनानी और लातीनी भाषाओं में क्रम से संबंध तथा अपादान की विभक्तियाँ स्वतंत्र कारक के रूप में प्रयुक्त हैं; प्राचीन अँगरेजी तथा नवीन अँगरेजी में क्रमशः संप्रदान और कर्त्ता के परसर्ग स्वतंत्र कारक के बोधक हैं; और जर्मन में कर्म-परसर्ग स्वतंत्र कारक का बोधक है। संस्कृत के स्वतंत्र कारक संबंध और अधिकरण की विभक्तियाँ लेते हैं। संस्कृत की परंपरा हिंदी को भी प्राप्त है, इसलिये यहाँ भी संबंध तथा अधिकरण के परसर्ग स्वतंत्र कारक के परसर्ग-जैसे प्रयुक्त होते हैं। नीचे हम संस्कृत के स्वतंत्र कारकों पर दृष्टिपात करते हुए हिंदी में उनके विकास पर विचार करेंगे।

स्वतंत्र कारक : अधिकरण

§ (१२७) संस्कृत में अधिकरण की विभक्ति, जो स्वतंत्र कारक की विभक्ति के रूप में प्रयुक्त होती है, भावलक्षण सप्तमी कही जाती है। भावे सप्तमी तथा अँगरेजी और यूनानी के क्रमशः कर्त्ता स्वतंत्र कारक तथा संबंध स्वतंत्र कारक के परसर्ग वा विभक्ति में साम्य है।

भावलक्षण सप्तमी द्वारा एक नाम (संज्ञा तथा सर्वनाम) की क्रिया के काल से दूसरे की क्रिया का काल लक्षित होता है।[१] इसे यों और स्पष्ट किया जा सकता है कि प्रथम क्रिया का काल तो ज्ञात रहता है और दूसरी क्रिया का काल प्रथम क्रिया के काल के संबंध

१. यस्य च भावेन भावलक्षणम् (अष्टाध्यायी, ३।२।३७)।

द्वारा निर्धारित कर लिया जाता है। आगे के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी। इसका प्रयोग कृदंतघटित प्रायः सभी प्रकार की वाक्य-योजना में हो सकता है।

संस्कृत में भावलक्षण सप्तमी का जो स्वरूप है वही स्वरूप हिंदी में स्वतंत्र कारक के लिये प्रयुक्त अधिकरण-परसर्ग का समझना चाहिए, उसमें और इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। संस्कृत की ज्यों की त्यों परंपरा हिंदी में आई है। नीचे संस्कृत तथा हिंदी के उदाहरण दिए जाते हैं।

संस्कृत का उदाहरण—कः पौरवे वसुमतीं शासति अविनयमाचरति (अभिज्ञान शाकुंतल); एतस्मिन्मृते राजसुते कोऽर्थो ममासुभिः (कथासरित्सागर); कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे (अभिज्ञान शाकुंतल); वचस्यवसिते तस्मिन् ससर्ज गिरमात्मभूः (कुमारसंभव)।

हिंदी का उदाहरण—कितने एक दिन बीते राजा फिर एक समै आखेट को गए (प्रेमसागर) [बीते=बीत जाने पर]; या आगे रस-काव्य प्रकासे जोग वचन प्रगटावै (भ्रमरगीतसार) [प्रकासे=प्रकाश होने पर]; आयइं लोअहो लोअणइं जाईसरइं न भंति। अप्पिए दिट्ठइ मउलइं पिए दिट्ठई विहसंति (पुरानी हिंदी); अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधें चिंतिज्जइ माणु। पिए दिट्ठे हल्लो हलेण को चेअइ अप्पाणु (वही); यथापि मूले अनुपद्दवे दल्हे छिन्नोपि रुक्खो पुनरेव रूहति। एवंपि तण्हानुसये अनूहते निब्बत्तति दुक्खमिदं पुनप्पुन (धम्मपदं); मारंत राए रण रोल परु मेइनि हाहा सद्द हुअ। सुरराए नएर नाएर रमनि वाम नयन पप्फुरिय धुअ (कीर्तिलता) [मारंत राए=राव (राजा) के मारे जाने पर]; एवं काले गच्छंते एक दिवसं बोधसत्तो आकासं ओलोकेत्वा चंदं दिस्वा 'स्वे उपोसथदिवसो' ति (पालि पाठावलि), मम सरीरे पक्के त्वं मंसं खादित्वा

समण धम्मं करेय्यति (वही); इसके खिलाफ गोबर अच्छा होते **जाने पर** भी कुछ उदास रहता था (गोदान)।

उपर्युक्त उदाहरणों के देखने से ज्ञात होता है कि संस्कृत का भावे वा भावलक्षण सप्तमी का प्रयोग ज्यों का त्यों हिंदी में आया है; यहाँ भी अधिकरण कारक के परसर्ग द्वारा यह व्यक्त किया जाता है, जैसे, 'गोबर के अच्छा **होते जाने पर**'। हिंदी में स्वतंत्र अधिकरण कारक की-सी वाक्य-योजना प्रायः कालवाचक समुच्चयबोधक—'जब'''तब' की सहायता से भी हो सकती है और होती है। इस स्थिति में हिंदी के अंतिम उदाहरण को इस रूप में रख सकते हैं—'इसके खिलाफ **जब** गोबर अच्छा होता जाता था **तब** भी कुछ उदास रहता था।'

§ (१२८) इस भावे सप्तमी के अंतर्गत ही स्वतंत्र कारक की वाक्य-रचना की एक विशिष्टता का अवलोकन कर लेना अच्छा होगा। संस्कृत में स्वतंत्र कारक की रचना में कृदंत के साथ जो 'होना' आता है उसका लोप कर देते हैं, और दोनों संज्ञाओं वा एक संज्ञा तथा एक विशेषण को सप्तमी में रखते हैं। संस्कृत की इस परंपरा का पालन हिंदी के प्राचीन लेखकों वा कवियों में प्राप्त होता है; उदाहरण के लिये § १२७ में हिंदी के प्रथम तथा द्वितीय उदाहरणों को देखना आवश्यक है। उनसे ज्ञात होगा कि 'बीते' का अर्थ 'बीत जाने पर' और 'प्रकासे' का अर्थ 'प्रकाश होने पर' ही है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि हिंदी के प्राचीन लेखकों में ही यह प्रवृत्ति लक्षित होती है, नवीन लेखकों में नहीं। इसका कारण खड़ी बोली हिंदी की व्यवहिति की ओर विशेष प्रवृत्ति ही समझना चाहिए। इस 'होना' का लोप बोलचाल में अब भी होता है। यथा, 'दीया जले मैं आऊँगा', 'इतना भए और बाकी ही क्या रह जायगा'। [दीया जले=दीया जला होने पर; इतना भए=इतना हो जाने पर]।

बनारसी बोली में भी यह लाघव की प्रवृत्ति प्राप्त है। जैसे, 'पाँच दिन गइले ऊ आयल रहलन'। [पाँच दिन गइले=पाँच दिन हो गइले—चल गइले—पर]।

संस्कृत का उदाहरण—एतत्सरः शीघ्रं शोषं यास्यति। अस्मिन् शुष्के......एते नाशं यास्यंति (पंचतंत्र); राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापपराः सदा (प्रजाः)—(भोजप्रबंध)।

§ (१२६) संस्कृत में शीघ्रता, तात्कालिकता आदि बोध कराने के लिये स्वतंत्र अधिकरण कारक की पद-योजना होती है। ऐसी स्थिति में अधिकरण-विभक्ति के साथ कभी 'एव' लगा दिया जाता है, कभी कृदंत के साथ 'मात्र' का प्रयोग होता है, और कभी अधिकरण-विभक्ति में प्रयुक्त समस्त पद के साथ 'एव' लगाया भी जाता है और कभी नहीं भी लगाया जाता। उदाहरण—अनवसित वचने एव मयि महानाशीविष उदैरयच्छिरः (दशकुमारचरित); अप्रभातायामेव रजन्यां (मुद्राराक्षस); प्रविष्टमात्र एव तत्र भवति निरुपप्लवानि नः कर्माणि संवृत्तानि (अभिज्ञानशाकुंतल)।

स्वतंत्र अधिकरण कारक के प्रकरण के आरंभ में ही हमने यह कहा था कि सामान्यतः इस प्रकार की वाक्य-योजना को कालवाचक समुच्चयबोधक द्वारा व्यक्त करते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों को यदि हम हिंदी में स्वतंत्र अधिकरण के रूप में रखें तो उसकी व्यंजना स्पष्ट रूपेण संमुख न आएगी; और यदि इसे समुच्चयबोधक द्वारा व्यक्त करें तो वह पूर्णतया स्पष्ट हो जायगी। संस्कृत के प्रथम उदाहरण के स्वतंत्र अधिकरण का रूप हिंदी में इस प्रकार का होगा—'मेरी (मुझे) वक्तृता न समाप्त होने (करने) पर ही कालसर्प ने फन उठाया।' पर संस्कृत के वाक्य का भाव हिंदी के इस रूप में ठीक ठीक नहीं आता। उसका वास्तविक अर्थ तो यह है कि 'जब मैंने वक्तृता नहीं समाप्त की थी (वह समाप्त ही करनेवाली थी) तभी कालसर्प ने फन

उठाया।' वस्तुतः संस्कृत के भावे सप्तमी को हिंदी में समुच्चयबोधक द्वारा व्यक्त करना ही सुगम होता है।

यहाँ एक बात की ओर संकेत कर देना अच्छा होगा। भावे सप्तमी के ऐसे स्थलों पर 'अनादरे षष्ठी' का रूप स्पष्ट लक्षित होता है, इसका विवेचन हम आगे करेंगे। संस्कृत का उदाहरण यदि अनादरे षष्ठी में होता तो हिंदी में भी उसी रूप में उसका अर्थबोध करने में कोई बाधा न उपस्थित होती। संस्कृत के उदाहरण को यदि हिंदी में इस रूप में रखें तो समुच्चयबोधक के प्रयोग की आवश्यकता न प्रतीत होगी और अर्थ भी अधिक स्पष्ट होगा – 'मेरे वक्तृता समाप्त करते करते ही कालसर्प ने फन उठाया।' पर इस स्थिति में भावलक्षण सप्तमी का 'नकार' प्रयुक्त न होगा।

§ (१३०) संस्कृत में कभी-कभी अव्ययों के साथ भी कृदंतों का प्रयोग होता है। और ऐसी स्थिति में भी भावलक्षण सप्तमी का अर्थ-बोध होता है। हिंदी में भी कृदंतों के साथ अव्यय प्रयुक्त होते हैं, और संस्कृत की ही भाँति अर्थ लक्षित होता है। संस्कृत का उदाहरण—एवं गते (अभिज्ञानशाकुंतल); तथाऽनुष्ठिते (हितोपदेश)। हिंदी में भी 'ऐसा होने पर', 'इस प्रकार किए जाने पर', आदि का प्रयोग प्रचलित है।

स्वतंत्र कारक : संबंध

§ (१३१) संस्कृत में जिस प्रकार सप्तमी का प्रयोग स्वतंत्र कारक के रूप में होता है उसी प्रकार षष्ठी का भी। इस प्रकार के प्रयोग को वहाँ 'अनादरे षष्ठी' द्वारा अभिहित किया जाता है।

अनादरे षष्ठी का स्वरूप-निर्धारण इस प्रकार किया जा सकता है कि इसमें प्रधान क्रिया के पूर्ति-काल में स्वतंत्र संबंध कारक के रूप में घटित वाक्यांश की क्रिया का अनादर किया जाता है। जैसे, 'मेरे देखते देखते बाज ने बालक को झपट लिया'—[पश्यतो-

ऽपि मे श्येनेनापहृतः शिशुः (पंचतंत्र)]। 'झपट लिया जाना' जो प्रधान क्रिया है वह पूर्ण हो ही गई, यद्यपि 'देखना' भी होता रहा।

इसी उदाहरण को लेकर संस्कृत के अनादरे षष्ठी के मूल तत्त्व पर भी तनिक विचार कर लिया जाय। (हिंदी में भी वही बात आई है)। अनादर का अर्थ होता है तिरस्कार, अवहेलना, घृणा आदि। उपर्युक्त उदाहरण में 'देखने' (वा रक्षा) का कार्य होता ही रहा, पर 'झपटने' का कार्य हो गया; अर्थात् देखने के कार्य की अवहेलना करके दूसरा कार्य कर लिया गया। यहाँ 'अनादर' का प्रयोग कुछ विस्तृत अर्थ में भी किया जा सकता है; जैसे, तटस्थता के अर्थ में। इस प्रकार की वाक्य-योजना में कभी-कभी यह भी होता है कि प्रधान कार्य (वा क्रिया) की पूर्ति गौण कार्य करनेवाले की स्वीकृति से भी हो जाती है; यथा, 'यह कार्य करके तुम मेरे रहते हुए ही चले जाना।' यहाँ 'चले जाना' प्रधान कार्य 'मेरे रहते हुए' गौण कार्य के होते हुए तो होगा, पर इस दूसरे कार्य के कर्त्ता की स्वीकृति से; अर्थात् यहाँ प्रधान कार्य का कर्त्ता गौण कार्य के कर्त्ता की अवहेला करके अपनी कार्य-पूर्ति न करेगा, प्रत्युत द्वितीय कार्य के कर्त्ता ने प्रधान कार्य के कर्त्ता को अपना कार्य करने के लिये स्वीकृति दे दी है, उसे उसके कार्य की चिंता नहीं, वह इससे तटस्थ है, निश्चिंत है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनादरे षष्ठी का प्रयोग कुछ विस्तृत क्षेत्र में भी हो सकता है।

हिंदी में स्वतंत्र संबंध कारक की रचना का स्वरूप संस्कृत के अनादरे षष्ठी की ही भाँति है।

उपर्युक्त उदाहरण द्वारा विदित होता है कि स्वतंत्र संबंध कारक के प्रयोग में वर्त्तमानकालिक कृदंत का प्रयोग प्रचलित है, निष्ठा का नहीं, यह भावे सप्तमी में चलता है।

हिंदी में स्वतंत्र संबंध कारक की व्यंजना संस्कृत की भाँति संबंध

कारक के परसर्ग तथा वर्त्तमानकालिक कृदंत द्वारा तो होती ही है, उसे दूसरे ढंग से भी व्यक्त कर सकते हैं; यथा, कृदंत के आगे 'हुए' न लगाकर उसकी (कृदंत की) द्विरुक्ति करके। उपर्युक्त उदाहरण के 'मेरे देखते हुए भी' को 'मेरे देखते-देखते भी' के द्वारा भी व्यक्त किया जाता है। यह प्रयोग अधिक प्रचलित भी है, और अर्थ में भी कोई भिन्नत्व उपस्थित नहीं होता।

थोड़े में हमने अनादरे षष्ठी वा स्वतंत्र संबंध कारक के परसर्ग के स्वरूप पर विचार कर लिया।

अब स्वतंत्र संबंध कारक तथा स्वतंत्र अधिकरण कारक के साम्य-वैषम्य पर भी तनिक विचार कर लेना अनावश्यक न होगा। एक बात में वैषम्य के अतिरिक्त इनमें सभी प्रकार का साम्य लक्षित होता है। और वह वैषम्य यह है कि स्वतंत्र संबंध कारक की वाक्य-रचना में प्रायः वर्त्तमानकालिक कृदंत का प्रयोग होता है और स्वतंत्र अधिकरण कारक की वाक्य-रचना में प्रायः भूतकालिक कृदंत (निष्ठा) का। इसके अतिरिक्त इनमें सर्वत्र साम्य है। ये दोनों परिस्थिति (वा अवस्था) तथा काल की व्यंजना करते हैं। स्वतंत्र संबंध कारक की विभक्ति वा उसके परसर्ग का प्रयोग स्वतंत्र अधिकरण कारक की विभक्ति वा उसके परसर्ग के अर्थ में तथा स्वतंत्र अधिकरण कारक की विभक्ति वा उसके परसर्ग का प्रयोग स्वतंत्र संबंध कारक की विभक्ति वा उसके परसर्ग के अर्थ में हो सकता है। हम स्वतंत्र संबंध कारक की वाक्य-योजना 'मेरे देखते हुए भी' को स्वतंत्र अधिकरण कारक की वाक्य-योजना 'मेरे देखते रहने पर भी' के रूप में भी रख सकते हैं, और अर्थ में किसी प्रकार का अंतर न आएगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इनमें साम्य अधिक है और वैषम्य कम।

§ (१३२) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में स्वतंत्र संबंध कारक की

वाक्य-योजना का प्रयोग अनादर, तिरस्कार, घृणा आदि प्रदर्शित करने के लिए होता है, यह हम जानते हैं। इस अर्थ में ही इस प्रकार की वाक्य-योजना (अनादरे षष्ठी) द्वारा समुच्चयबोधक 'यद्यपि...तथापि', केवल 'यद्यपि', 'तथापि' आदि का अर्थ-बोध होता है। संस्कृत का उदाहरण—नंदाः पशवः इव हताः पश्यतो राक्षसस्य (मुद्राराक्षस)। संस्कृत के उल्लिखित उदाहरण को यदि हम हिंदी रूप देना चाहें तो वह इस रूप में होगा—'राक्षस के देखते हुए नंद का परिवार पशुओं के समान मार डाला गया।' समुच्चयबोधक के वाक्य-विन्यास में इसे इस रूप में रखेंगे—'यद्यपि राक्षस देख रहा था तथापि (तो भी) नंद का परिवार पशुओं के समान मार डाला गया'। इसका सबसे सुंदर उदाहरण यही वाक्य प्रतीत होता है—'पश्यतोऽपि मे श्येनेनापहृतः शिशुः।' 'यद्यपि मैं देख रहा था तो भी शिशु बाज द्वारा झपट लिया गया'।

§ (१३३) जिस प्रकार स्वतंत्र अधिकरण कारक की पद-योजना द्वारा स्थिति तथा काल की व्यंजना होती है उसी प्रकार स्वतंत्र संबंध कारक की पद-योजना द्वारा भी। इस स्थिति में समुच्चयबोधक 'जब......तब' द्वारा भी उपर्युक्त अर्थ व्यक्त किया जाता है। उदाहरण—एवं तयोः परस्परं वदतोः स राजा शयनमासाद्य प्रसुप्तः (पंचतंत्र)। इसका हिंदी-रूप इस प्रकार का होगा—'इस प्रकार दोनों के परस्पर बात करते हुए वह राजा शैया पर आकर सो गया'। काल तथा स्थिति-वाचक समुच्चयबोधक की वाक्य-रचना में इसे इस रूप में रखेंगे—'जब दोनों परस्पर इस प्रकार बात कर रहे थे तब राजा शैया पर आकर सो गया।'

उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा स्थिति तथा काल साथ ही व्यक्त हो रहा है। और उदाहरण—सो पस्संतस्सेव तस्य महाजनस्स देवतानुभावेन आकासे पल्लंकेन निसीदि (पालि पाठावलि)।

———

[१२]

कारक-प्रयोग के कुछ विशिष्ट स्वरूप

§ (१३४) संस्कृत पद-विन्यास में कारक-विभक्तियों वा परसर्गों के प्रयोग का कुछ विचित्र वा विशिष्ट स्वरूप भी प्राप्त है। हम संपूर्ण कारक विभक्तियों वा परसर्गों के प्रयोग पर विचार कर चुके हैं; इसके द्वारा हमें ज्ञात हो चुका है कि प्रायः नाम और आख्यात ही कारक-विभक्तियों वा परसर्गों की आकांक्षा रखते हैं, उपसर्ग और निपात नहीं, इसे इस प्रकार कहें कि कारक-विभक्तियों वा परसर्गों पर अधिकार केवल नामों और आख्यातों का है। पर बात कुछ ऐसा नहीं है, कारक-विभक्तियों वा परसर्गों पर उपसर्ग और निपात का भी अधिकार है; वे भी कारक-विभक्तियों वा परसर्गों की आकांक्षा करते हैं।

यथास्थल हम कुछ निपातों के प्रयोग में कारक-विभक्तियों वा परसर्गों के प्रयोग पर किंचित् विचार कर चुके हैं; यथा, नाना, विना, सह, साथ आदि। आगे हम कुछ और निपातों के साथ कारक-विभक्तियों वा परसर्गों के प्रयोग पर विचार करेंगे। परंतु, उपसर्गों के योग में कारक-विभक्तियों वा परसर्गों के प्रयोग पर अभी तक हमने विचार नहीं किया है, यद्यपि ऐसा प्रयोग प्रचलित है। जब उपसर्ग कारक-विभक्तियों वा परसर्गों की आकांक्षा रखते हैं तब संस्कृत में उनकी संज्ञा 'कर्मप्रवचनीय' होती है। जैसे, जब उप, अधि, अति आदि उपसर्ग कारक-विभक्ति पर अधिकार रखेंगे तब उनको कर्मप्रवचनीय कहा जायगा। हाँ, यह एक विचारणीय विषय है कि उपसर्गों के प्रयोग के ऐसे स्थलों पर उनका (उपसर्गों का) कारक-विभक्तियों पर अधिकार रखना कहा जाय वा नहीं। इसपर हम यथास्थल विचार करेंगे।

कुछ नामों के साथ कुछ विभक्तियों का प्रयोग सदैव एक ही अर्थ तथा रूप में होने के कारण उन्होंने एक प्रकार से अव्यय का रूप धारण कर लिया है। जैसे, रूपेण, निमित्तेन, मार्गेण, बलात्, वशात् आदि।

कुछ कृदंत ऐसे हैं जो या तो किसी कारक-विभक्ति की आकांक्षा रखते है या किसी कारक की विभक्ति का अर्थ व्यक्त करते हैं। जैसे, आरभ्य, आदाय, मुक्त्वा; आदि; गत, युक्त, सहित आदि।

विवेचन की सुविधा के लिये हम उपर्युक्त बातों को यदि इन शीर्षकों मे रख लें तो अच्छा हो—

(१) कारक और उपसर्ग, (२) कारक और निपात, (३) निपात (वा अव्यय) के रूप में सविभक्तिक नाम, (४) कारक और कृदंत।

संस्कृत में प्रयोग के उपर्युक्त विशिष्ट स्वरूप तो चलते ही हैं, हमें यह देखना है कि इनका विकास हिंदी में किन रूपों में हुआ है; ऐसी स्थिति में हमें कुछ प्रयोग तो परंपराप्राप्त संस्कृत से हिंदी में आए मिलेंगे और कुछ अपने मूल रूप में हिंदी में न आकर विकसित रूप में तथा मूल रूप के अनुवाद के रूप में आए प्राप्त होंगे।

(१) कारक और उपसर्ग

§ (१३५) संस्कृत में जब उपसर्ग आख्यात के पूर्व लगते हैं तब उसे (आख्यात को) एक समस्त पद बनाकर उसके अर्थ में वैशिष्ट्य ला देते हैं।[१] प्र, परा, अप आदि बाईस उपसर्ग संस्कृत मे प्रचलित हैं; इनमें से कुछ हिंदी में भी चलते हैं।[२] कुछ उपसर्ग कर्मप्रवचनीय के रूप में प्रयुक्त होते हैं और इस अवस्था में कारक-विभक्तियों की आकांक्षा रखते हैं।

१—सोपसर्ग धातु से निष्पन्न नाम भी अनुपसर्ग धातु से निष्पन्न नाम से अर्थ में विशेषता लाते हैं।

२—प्रादयः (अष्टाध्यायी, १।४।५८), उपसर्गाः क्रियायोगे (वही, १।४।५६)

यहाँ कर्मप्रवचनीय का स्वरूप देख लेना आवश्यक प्रतीत होता है। कर्मप्रवचनीय न क्रिया का द्योतक होता है और न संबंध का वाचक, वह उपसर्ग की भाँति दूसरी क्रिया का आक्षेप भी नहीं करता, पर किसी न किसी रूप में (घूम-फिरकर) यह संबंध की व्यंजना कर देता है।[१] जैसे, 'मैं उनके बहुत पीछे (संस्कृत 'अनु') हूँ।' यहाँ 'पीछे' का अर्थ यह नहीं है कि 'मैं उनके पीछे खड़ा वा स्थित हूँ'; प्रत्युत इससे यह लक्षित होता है कि 'मैं विद्या, बल, बुद्धि वा अन्य किसी बात में उनसे छोटा हूँ।' तो, यहाँ 'पीछे' का अर्थ 'छोटा' है। संस्कृत उपसर्ग 'अनु' (जो कर्मप्रवचनीय के रूप में प्रयुक्त होता है) का अर्थबोधक हिंदी का निपात 'पीछे' विशेषण 'छोटा' का अर्थ व्यंजित कर रहा है।[२] इस उदाहरण से ज्ञात हो गया होगा कि कर्म-प्रवचनीय के मूल में किसी अन्य अर्थ की व्यंजना ही प्रधानरूपेण स्थित रहती है। दूसरी अवलोकनीय बात इस उदाहरण में यह है कि यहाँ 'पीछे' का संबंध 'उन' से है।

उदाहरण के लिये उद्धृत वाक्य से ज्ञात होता है कि 'पीछे' निपात (संस्कृत का 'अनु' उपसर्ग) संबंध कारक के परसर्ग की आकांक्षा रखता है। पर, संस्कृत में कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति लगती है।[३] इससे ज्ञात होता है कि ऐसे स्थलों पर संस्कृत

गतिश्च (वही, १।४।६०)। प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि, उप। एते प्रादयः।

१. क्रियाया द्योतको नायं संबंधस्य न वाचकः।
नापि क्रियांतराक्षेपी संबंधस्य तु भेदकः॥ —वाक्यपदीय।

२. पीछे' का यही अर्थ जायसी के 'पछलगा' शब्द में भी है—हौं पंडितन्ह केर पछलगा। किछु कहि चला तबल देइ डगा। —पद्मावत।

३. कर्मप्रवचनीय युक्ते द्वितीया (अष्टाध्यायी, २।३।८)।

की द्वितीया का विकास हिंदी के संबंध कारक के बोधक परसर्ग के रूप में हुआ है।

§ (१३६) निम्नलिखित उपसर्ग संस्कृत में कर्मप्रवचनीय के रूप में प्रयुक्त होतें हैं—

(१) अनु, (२) उप, (३) अप, (४) परि, (५) आ, (६) प्रति, (७) अभि, (८) सु, (९) अति, (१०) अपि और (११) अधि।

उपर्युक्त उपसर्ग संस्कृत के कर्मप्रवचनीय हैं, हिंदी में ये अपने मूल रूप में प्रयुक्त नहीं होते, प्रत्युत इन्हीं के अर्थबोधक निपात (अव्यय) के रूप में प्रयुक्त होते हैं। आगे हम इन उपसर्गों के हिंदी के विकसित रूपों पर विचार करेंगे।

§ (१३७) **अनु**—'अनु' द्वितीया की आकांक्षा रखता है। हिंदी में इस (अनु = पीछे) के योग में प्रायः संबंध कारक का परसर्ग प्रयुक्त होगा। महामुनि पाणिनि ने कर्मप्रवचनीय 'अनु' का प्रयोग कई अर्थों में बतलाया है।

(अ) लक्षण-बोधनार्थ 'अनु' का प्रयोग होता है।[1] उदाहरण—जपमनुप्रावर्षत्। इसका हिंदी रूप इस प्रकार का होगा—'जप के पीछे वर्षा हुई।' तात्पर्य यह कि वर्षा का कारण जप था, जब जप किया गया तब उसका फल वर्षा के रूप में आया। यहाँ वर्षा का लक्षक—कारण जप है।

हिंदी का और उदाहरण—परिश्रम के पीछे सुफल मिलता है; इस औषध-सेवन के पीछे रोगी अच्छा हो जायगा।

उदाहरणार्थ उद्धृत वाक्यों से यह लक्षित होता है कि 'अनु' (पीछे) के द्वारा कार्य-कारण भाव तो व्यक्त होता ही है, काल

१. अनुर्लक्षणे (वही, १।४।८४ ।

का भी बोध होता है। 'परिश्रम के पीछे सुफल मिलता है' का तात्पर्य यह है कि किसी समय जब परिश्रम किया जाता है तब कालांतर में सुफल फलता है।

'अनु' द्वारा स्थान का भी बोध होता है, यथा, 'पुरोहित के पीछे पीछे गया (जगामानु पुरोहितम्—रामायण)। अर्थात् जिस मार्ग से पुरोहित गए उसी मार्ग से गया।

यहाँ तनिक ध्यान देने की बात यह है कि ऐसे स्थलों पर हिंदी में कभी-कभी 'पीछे' की द्विरुक्ति हो जाती है, जैसे ऊपर के उदाहरण में।

(आ) संस्कृत में 'अनु' कर्मप्रवचनीय का प्रयोग तृतीया (सह, निकट आदि) के अर्थ में होता है।[1] उदाहरण—नदीमन्ववसिता सेना, निवेश्य गंगामनुचमूम् (रामायण)।

'अनु'[2] का अर्थ 'पीछे' और 'साथ' भी होता है। इस उदाहरण में 'अनु' का अर्थ 'साथ' ही है। 'सेना को गंगा के साथ ठहराकर' का अर्थ यह है कि उसकी सतह पर ठहराकर, अर्थात् गंगा के तट पर ठहराकर।

हिंदी का और उदाहरण—इस मूर्ति को विष्णु की मूर्ति के साथ (समान सतह पर) रखो।

(इ) हीन अर्थ में भी 'अनु' कर्मप्रवचनीय का प्रयोग होता है। उदाहरण—अन्वार्जुनं योद्धारः, अनु हरिं सुराः।

हिंदी का उदाहरण—कुलपति के पीछे आचार्य, उपाध्याय आदि आते हैं।

यहाँ 'हीन' का प्रयोग पद में हीन के अर्थ में हुआ है। इस प्रकार हिंदी के उदाहरण का अर्थ यह हुआ कि 'कुलपति के पद के पश्चात्

---

१. तृतीयार्थे (वही. १।४।८५)।

वा पीछे आचार्य, उपाध्याय आदि का पद आता है, अर्थात् आचार्य, उपाध्याय आदि कुलपति से छोटे हैं।

(ई) संस्कृत में 'अनु' कर्मप्रवचनीय लक्षण, इत्थंभूत, भाग और वीप्सा (द्विरुक्ति के स्थलों पर) के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[1] यहाँ 'लक्षण' का प्रयोग लक्षित होने, दिखाई पड़ने के सीधे अर्थ में ही समझना चाहिए। उदाहरण—वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्। इस उदाहरण का हिंदी रूप यह होगा—'बिजली पेड़ के पीछे चमक रही है।' 'पेड़ के पीछे' का तात्पर्य है पेड़ के पास, आसपास। पीछे (अनु) निकटत्व का बोध कराता है। इस प्रकार पीछे के अर्थ में आए पास, आसपास भी कर्मप्रवचनीय होंगे।

इत्थंभूत का अर्थ है एक वस्तु जैसी है दूसरी भी वैसी ही हो। इसकी अभिधा 'ऐसी ही' है। यहाँ इत्थंभूत से तात्पर्य अनुगमन या अनुकरण से है। उदाहरण—भक्तो विष्णुमनु, यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु (महाभारत)। हिंदी का उदाहरण—आपके पीछे सैकड़ों नवयुवक आप की रक्षा के लिये तैयार रहेंगे (विदा) [आपके पीछे=आपके सिद्धांतों के अनुगमन पर]। आज सारी जनता गांधी के पीछे है (गांधी के पीछे=गांधी की अनुगामिनी)।

भाग द्वारा सहधर्म, अंग आदि की व्यंजना होती है। संस्कृत का उदाहरण—लक्ष्मीर्हरिमनु। 'लक्ष्मी हरि के पीछे हैं' का तात्पर्य यह है कि लक्ष्मी हरि का एक अंग हैं, वे उनकी अर्द्धांगिनी हैं।

हिंदी में भी संस्कृत के इस 'अनु' का प्रयोग लाक्षणिक अर्थों में चलता है, जैसे, गाय के पीछे-पीछे बछड़ा भी लगा है; अर्थात् जहाँ गाय रहेगी वहाँ बछड़ा भी रहेगा। बछड़ा भी गाय का एक अंग—भाग है। और उदाहरण—यह लड़की आपके धर्म के पीछे है।

---

१. लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः—(वही, १।४।९०)।

वीप्सा का अर्थ होता है द्विरुक्ति, द्विरुक्ति के स्थलों पर 'अनु'—'पीछे' का प्रयोग होता है। उदाहरण—वृक्षं वृक्षमनु—'वृक्ष वृक्ष के पीछे'। इसका अर्थ है एक एक वृक्ष के पीछे।

ऐसे स्थलों पर हिंदी में वीप्सा न करके नाम और निपात को समस्त पद भी बना देते हैं, जैसे, पेड़ पीछे पाँच आने खर्च पड़ते हैं।

वीप्सार्थ में कर्मप्रवचनीय का प्रयोग कोई वैशिष्ट्य उपस्थित नहीं करता। जहाँ द्विरुक्ति नहीं होती वहाँ भी इसके प्रयोग द्वारा एक ही अर्थ निकलता है और जहाँ द्विरुक्ति होती है वहाँ भी।

(ए) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में 'अनु' (पीछे) का प्रयोग संबंध के अर्थ में भी होता है। उदाहरण—एवं विदं ह वा एषा ब्राह्मणमनु गाथा (छांदोग्योपनिषद्)। हिंदी का उदाहरण—'मेरे पीछे एक न एक विपत्ति लगी ही रहती है', अर्थात् एक न एक विपत्ति का संबंध मुझसे रहता ही है। इसी प्रकार—इस पुस्तक के पीछे एक इतिहास लगा हुआ है।

यहाँ भी नाम और निपात समस्त पद में रखे जाते हैं।

संस्कृत में भी 'अनु' तथा नाम का समास होता है,[१] यथा, अनुवनमशनिर्गतः, अनुगंगं वाराणसी।

(ऐ) कर्मप्रवचनीय 'अनु' के योग में हिंदी में कभी कभी अपादान-परसर्ग का प्रयोग भी होता है, यथा, मैं उनसे पीछे जाऊँगा। पर, संबंध-परसर्ग का प्रयोग ही विशेष उपयुक्त जान पड़ता है। संस्कृत में भी पंचमी का प्रयोग मिलता है—शप्ता यूयम्······अनुसंवत्सरात्सर्वे शापमोक्षमवाप्स्यथ (महाभारत)।

§ (१३८) **उप**—संस्कृत में 'उप' कर्मप्रवचनीय हीन, अधिक तथा समीप के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जब इसका प्रयोग अधिक के अर्थ

---

१. अनुर्यत्समया, यस्य चायामः (वही, २।१।१५)।

में होता है तब इसके योग में सप्तमी होती है।[१] उदाहरण—उपनिष्के कार्षापणम्।

ऐसे स्थलों पर हिंदी में हम 'उप' को 'अधिक' द्वारा ही व्यक्त कर सकते हैं, और इस स्थिति में संस्कृत की सप्तमी का विकास हिंदी के अपादान कारक के परसर्ग के रूप में होगा। इस प्रकार संस्कृत के उपर्युक्त उदाहरण का हिंदी-रूप यह होगा—एक निष्क से अधिक कार्षापण होता है।

जब 'उप' हीन वा गौण अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब उसके साथ द्वितीया ही लगती है। हिंदी में इस अर्थ में इसके योग में भी अपादान कारक के परसर्ग का ही प्रयोग होगा। उदाहरण—उप शाकटायनं वैयाकरणाः। हिंदी-रूप—'शाकटायन से (और) वैयाकरण नीचे हैं।' हिंदी में शाकटायन के योग में संबंध-कारक के बोधक परसर्ग का प्रयोग भी हो सकता है, पर अपादान कारक के परसर्ग का प्रयोग ही अधिक सुष्ठु प्रतीत होता है। यहाँ 'नीचे' का प्रयोग हीनार्थ-बोधक 'अनु' (= छोटा) के अर्थ में ही समझना चाहिए।

कर्मप्रवचनीय 'उप' का प्रयोग 'समीप' के अर्थ में विशेष प्रचलित है। संस्कृत में इस अर्थ में प्रयुक्त 'उप' के साथ द्वितीया विभक्ति लगती है। हिंदी में ऐसे स्थलों पर संबंध तथा अपादान कारक के बोधक परसर्गों का प्रयोग वैकल्पिक है। उदाहरण—उपकन्यकापुरम् (दशकुमारचरित)।

हिंदी में इसे इस रूप में रखेंगे—अंतःपुर के (वा से) निकट वा समीप। छंदस् की भाषा में निकट के अर्थ में प्रयुक्त 'उप' के साथ तृतीया तथा सप्तमी का प्रयोग भी होता है।

१. उपोऽधिके च (वही, १।४।८७)। यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी (वही, २।३।९)।

एक और बात ध्यान देने की यह है कि 'उप' कर्मप्रवचनीय का प्रयोग वेद में ही विशेष मिलता है।

§ (१३९) अप—संस्कृत में कर्मप्रवचनीय 'अप' का प्रयोग बहुत ही कम होता है। यह वर्जन—(=वहिः) वा बाहर के अर्थ में विशेष प्रचलित है,[१] इसके योग में पंचमी विभक्ति लगती है।[२] हिंदी में इसके साथ अपादान तथा संबंध कारक के बोधक परसर्गों का प्रयोग वैकल्पिक है। संस्कृत का उदारहण—अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टोदेवः। हिंदी का उदाहरण—आपकी बहुत-सी बातें बुद्धि के वा से बाहर होती हैं।

संस्कृत में 'अप' और नाम का समास हो जाता है,[३] यथा, अपविष्णु संसारः। हिंदी में भी बाहर वा विरुद्ध तथा नाम में समास हो सकता है, जैसे, बुद्धि-बाहर वा बुद्धि-विरुद्ध। पर, खड़ी बोली हिंदी की प्रवृत्ति समास की ओर (विशेषतः ऐसे स्थलों पर) बहुत कम है।

§ (१४०) परि—संस्कृत में 'परि' कर्मप्रवचनीय का प्रयोग विशेषतः 'चारों ओर', 'आसपास' के अर्थ में होता है। यह साहित्य में बहुत ही कम प्रयुक्त मिलता है।

महामुनि पाणिनि के मत्यनुसार 'परि' का प्रयोग कई अर्थों में होता है।

(क) 'परि' कर्मप्रवचनीय का प्रयोग 'बाहर', 'अतिरिक्त' तथा इन्हीं के पर्याय के अर्थ में होता है[४]। इसके योग में पंचमी विभक्ति

---

१. अपपरी वर्जने (वही, १ । ४ । ८८)।

२. पंचम्यपाङ्परिभिः (वही, २ । ३ । १०)।

३. अपपरिवहिरञ्चवः पंचम्या (वही, २।१।१२)

. अपपरीवर्णने (वही. १ । ४ । ८८)

लगती है।[१] हिंदी में इस स्थिति में संबंध तथा अपादान कारक के बोधक परसर्गों का प्रयोग वैकल्पिक होगा। संस्कृत का उदाहरण—परिहरेः। हिंदी का उदाहरण—इस लोक से वा के परे (—अतिरिक्त) कोई दूसरा लोक भी है।

'परे', 'अतिरिक्त' आदि द्वारा 'बाहर' की ही व्यंजना होती है।

संस्कृत तथा हिंदी दोनों में 'बाहर' के अर्थ में प्रयुक्त 'परि' वीप्सा (द्विरुक्ति) होती है।[२] जैसे, परि परि वंगेभ्यो वृष्टो देवः। हिंदी का उदाहरण—राजदंड के कारण वह नगर के (वा से) बाहर बाहर ही फिरा करता है।

(ख) लक्षण, इत्थंभूत, भाग तथा वीप्सा के अर्थों में 'परि' प्रयुक्त होता है।[३] (देखिए § १३७ (ई)) ऐसी अवस्था में संस्कृत में यह द्वितीया की आकांक्षा रखता है और हिंदी में संबंध कारक के बोधक परसर्ग की।[४]

§ १३७ (ई) की भाँति यहाँ भी 'लक्षण' का अर्थ लक्षित होना, दिखाई पड़ना ही समझना चाहिए। एक बात और। इस स्थिति में 'परि' का प्रचलित अर्थ 'आसपास', 'चारों ओर' ही होगा। उदाहरण—वृक्षं परिविद्योतते विद्युत्। इसका हिंदी-रूप इस प्रकार का होगा—बिजली पेड़ के आसपास—चारों ओर—चमक रही है।

इत्थंभूत के अर्थ में 'परि' का प्रयोग 'प्रति' (ओर, लिये) के पर्याय के रूप में होता है। जैसे, साधुर्देवदत्तो मातरं परि। इसका हिंदी-रूप इस प्रकार का होगा—देवदत्त माता के प्रति अच्छा है;

---

१. पंचम्यपाङ्परिभि (वही, २।३।१०)।

२. परेर्वर्जने (वही, ८।१।५)।

३. लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः (वही, १।४।९०)।

४. वीप्सा के अर्थ के अतिरिक्त।

अर्थात् माता के प्रति (के लिये, की ओर) देवदत्त का आचरण अच्छा है।

भाग के अर्थ में भी 'परि' का प्रयोग 'लिये' के अर्थ में ही होता है। संस्कृत का उदाहरण—यदत्र मां परि स्यात्तद् दीयताम्। हिंदी का उदाहरण—'जो मेरे लिये (मेरे भाग में) हो उसे दे दो।'

वीप्सा के अर्थ में 'परि' का प्रयोग 'पुनः पुनः', 'बार-बार' तथा इन्हीं के पर्याय के अर्थ में होता है। ऐसी स्थिति में हिंदी में इसका कोई विकास नहीं लक्षित होता। संस्कृत में भी इसके योग में द्वितीया का प्रयोग होगा और हिंदी में भी कर्म-परसर्ग का। उदाहरण—वृक्षं वृक्षं परि सिंचति। इसका हिंदी-रूप होगा—'वृक्ष वृक्ष को बार-बार वा पुनः पुनः सींचता है', अर्थात् 'प्रति वृक्ष (एक एक वृक्ष) को पुनः पुनः सींचता है।'

§ (१४१) आ—'आ' कर्मप्रवचनीय का प्रयोग सीमा वा मर्यादा का बोध कराने के लिये होता है।[१] इसके द्वारा देश तथा काल दोनों की सीमा व्यक्त होती है। यह प्रायः नाम के पूर्व रखा जाता है और इसके योग में पंचमी विभक्ति लगाई जाती है।[२]

संस्कृत तथा हिंदी दोनों में यह 'से', 'तक' तथा 'से लेकर… तक' की व्यंजना करता है। संस्कृत का यह 'आ' हिंदी में उपर्युक्त तीन रूपों में विकसित हुआ है। हिंदी में यह तत्सम रूप में भी चलता है। 'आ' पर अपादान कारक के प्रकरण में हम पूर्ण विचार कर चुके हैं, यहाँ इसका पुनर्विवेचन पिष्टपेषण ही होगा। इसके लिये अपादान कारक का प्रकरण अवलोकनीय है। देखिए § ५५।

§ (१४२) प्रति—'प्रति' कर्मप्रवचनीय का प्रयोग संस्कृत में बहु प्रचलित है। हिंदी में यह तत्सम रूप में भी चलता है और इसकी

१. आङ्मर्यादावचने (अष्टाध्यायी, १।४।८९)।
२. पंचम्यपाङ्परिभिः (वही, २।३।१०)।

व्यंजना अन्य हिंदी शब्दों द्वारा भी होती है। 'प्रति' का प्रधान अर्थ है 'ओर'। यह दिशा सूचित करते हुए 'किसी ओर' की व्यंजना करता है। इस 'ओर' को लेकर ही यह अनेक लाक्षणिक अर्थों में भी प्रयुक्त होता है।

संस्कृत में 'प्रति' प्रायः द्वितीया की आकांक्षा रखता है, इसके योग में पंचमी का भी प्रयोग होता है। हिंदी में इसके साथ प्रायः संबंध कारक का बोधक परसर्ग लगाया जाता है।

आगे हम विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त 'प्रति' के प्रयोग पर विचार करते हैं।

(क) 'प्रति' का सर्वसामान्य प्रयोग दिशा सूचित करने के लिये होता है। इस स्थिति में यह हिंदी 'ओर' का अर्थबोधक होगा। उदाहरण—गच्छन्निजदेशं प्रति। संस्कृत के इस उदाहरण को यदि हिंदी-रूप दें तो वह इस प्रकार का होगा—'अपने देश की ओर जाते हुए।'

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि ऐसे स्थलों पर संस्कृत की द्वितीया हिंदी के संबंध कारक के परसर्ग के रूप में विकसित हुई है।

(ख) कर्मप्रवचनीय 'प्रति' का प्रयोग किसी 'के प्रति' वा 'पर' मनोवेग वा भाव प्रकट करने के लिये भी होता है। उदाहरण—सहधर्मचारिणीं प्रति न त्वया मन्युः कार्यः (अभिज्ञान शाकुंतल), वैरं रामं प्रति।

ऐसे स्थलों पर 'प्रति' का विकास हिंदी में 'पर' के रूप में भी हुआ है और यह अपने मूल रूप में भी प्रयुक्त होता है। यथा, 'सहधर्मचारिणी के प्रति वा पर तुम्हें क्रोध न करना चाहिए' और 'राम के प्रति (वा से) वैर'।

अर्थात् माता के प्रति (के लिये, की ओर) देवदत्त का आचरण अच्छा है।

भाग के अर्थ में भी 'परि' का प्रयोग 'लिये' के अर्थ में ही होता है। संस्कृत का उदाहरण—यदत्र मां परि स्यात्तद् दीयताम्। हिंदी का उदाहरण—'जो मेरे लिये (मेरे भाग में) हो उसे दे दो।'

वीप्सा के अर्थ में 'परि' का प्रयोग 'पुनः पुनः', 'बार-बार' तथा इन्हीं के पर्याय के अर्थ में होता है। ऐसी स्थिति में हिंदी में इसका कोई विकास नहीं लक्षित होता। संस्कृत में भी इसके योग में द्वितीया का प्रयोग होगा और हिंदी में भी कर्म-परसर्ग का। उदाहरण— वृक्षं वृक्षं परि सिंचति। इसका हिंदी-रूप होगा—'वृक्ष वृक्ष को बार-बार वा पुनः पुनः सींचता है', अर्थात् 'प्रति वृक्ष (एक एक वृक्ष) को पुनः पुनः सींचता है।'

§ (१४१) आ—'आ' कर्मप्रवचनीय का प्रयोग सीमा वा मर्यादा का बोध कराने के लिये होता है।[१] इसके द्वारा देश तथा काल दोनों की सीमा व्यक्त होती है। यह प्रायः नाम के पूर्व रखा जाता है और इसके योग में पंचमी विभक्ति लगाई जाती है।[२]

संस्कृत तथा हिंदी दोनों में यह 'से', 'तक' तथा 'से लेकर··· तक' की व्यंजना करता है। संस्कृत का यह 'आ' हिंदी में उपर्युक्त तीन रूपों में विकसित हुआ है। हिंदी में यह तत्सम रूप में भी चलता है। 'आ' पर अपादान कारक के प्रकरण में हम पूर्ण विचार कर चुके हैं, यहाँ इसका पुनर्विवेचन पिष्टपेषण ही होगा। इसके लिये अपादान कारक का प्रकरण अवलोकनीय है। देखिए § ५५।

§ (१४२) प्रति—'प्रति' कर्मप्रवचनीय का प्रयोग संस्कृत में बहु प्रचलित है। हिंदी में यह तत्सम रूप में भी चलता है और इसकी

१- आंगमर्यादावचने (अष्टाध्यायी, १।४।८९)।

२. पंचम्यपांगपरिभिः (वही, २।३।१०)।

व्यंजना अन्य हिंदी शब्दों द्वारा भी होती है। 'प्रति' का प्रधान अर्थ है 'ओर'। यह दिशा सूचित करते हुए 'किसी ओर' की व्यंजना करता है। इस 'ओर' को लेकर ही यह अनेक लाक्षणिक अर्थों में भी प्रयुक्त होता है।

संस्कृत में 'प्रति' प्रायः द्वितीया की आकांक्षा रखता है, इसके योग में पंचमी का भी प्रयोग होता है। हिंदी में इसके साथ प्रायः संबंध कारक का बोधक परसर्ग लगाया जाता है।

आगे हम विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त 'प्रति' के प्रयोग पर विचार करते हैं।

(क) 'प्रति' का सर्वसामान्य प्रयोग दिशा सूचित करने के लिये होता है। इस स्थिति में यह हिंदी 'ओर' का अर्थबोधक होगा। उदाहरण—गच्छन्निजदेशं प्रति। संस्कृत के इस उदाहरण को यदि हिंदी-रूप दें तो वह इस प्रकार का होगा—'अपने देश की ओर जाते हुए।'

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि ऐसे स्थलों पर संस्कृत की द्वितीया हिंदी के संबंध कारक के परसर्ग के रूप में विकसित हुई है।

(ख) कर्मप्रवचनीय 'प्रति' का प्रयोग किसी 'के प्रति' वा 'पर' मनोवेग वा भाव प्रकट करने के लिये भी होता है। उदाहरण—सहधर्मचारिणीं प्रति न त्वया मन्युः कार्यः (अभिज्ञान शाकुंतल), वैरं राम प्रति।

ऐसे स्थलों पर 'प्रति' का विकास हिंदी में 'पर' के रूप में भी हुआ है और यह अपने मूल रूप में भी प्रयुक्त होता है। यथा, 'सहधर्मचारिणी के प्रति वा पर तुम्हें क्रोध न करना चाहिए' और 'राम के प्रति (वा से) वैर'।

हिंदी में जब 'प्रति' 'पर' के रूप में गृहीत होगा तब उसका प्रयोग ठीक अधिकरण वा करण कारक के बोधक परसर्गों-सा प्रतीत होगा, जैसे, सहधर्मचारिणी पर क्रोध, राम से वैर। सहधर्मचारिणी के ऊपर वा राम के ऊपर क्रोध का भी प्रयोग होता है। ऐसी स्थिति में यदि 'ऊपर' (=पर) को संस्कृत 'प्रति' का विकसित रूप मानकर इसके साथ संबंध कारक के बोधक परसर्ग का प्रयोग किया जाय तो 'ऊपर' (=पर) हिंदी के कर्मप्रवचनीय के रूप में गृहीत हो सकता है।

(ग) 'प्रति' कर्मप्रवचनीय का प्रयोग निमित्त सप्तमी के रूप में प्रचलित है। इस स्थिति में इसका हिंदी-रूप होगा—'पर', 'के लिये', 'विषय में' आदि। उदाहरण—सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे, प्रियां तु मालतीं प्रति निराशोस्मि (मालतीमाधव)। हिंदी का उदाहरण—छोटी छोटी बातों पर ऐंठना ठीक नहीं। यहाँ 'बातों पर' का अर्थ है बातों के लिये, बातों के विषय में, बातों के संबंध में वा से।

उपर्युक्त उदाहरणों को देखने से ज्ञात होता है कि ऐसे स्थलों पर संस्कृत का 'प्रति' कर्मप्रवचनीय हिंदी में 'विषय में' के अतिरिक्त शुद्ध संप्रदान वा अधिकरण कारक के बोधक परसर्गों के रूप में प्रयुक्त होता है।

(घ) 'प्रति' कर्मप्रवचनीय द्वारा देश-काल का निकटत्व बोध होता है। निकटत्व से 'आसपास', 'लगभग' का अर्थ समझना चाहिए। ऐसे स्थलों पर संस्कृत में 'प्रति' द्वितीया की आकांक्षा रखता है और हिंदी में इसके (आसपास, लगभग, निकट, करीब) योग में संबंध कारक का बोधक परसर्ग प्रयुक्त होता है। देशसूचक प्रसिद्ध उदाहरण से हम परिचित हैं—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्। कालसूचक उदाहरण—मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः। फाल्गुणं वा थ चैत्रं वा मासौ प्रति......।

इनका हिंदी-रूप 'वृक्ष के आसपास वा लगभग' तथा 'फागुन वा चैत के लगभग वा आसपास' होगा। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि संस्कृत का 'प्रति' कर्मप्रवचनीय भी हिंदी 'लगभग', 'आसपास' के रूप में विकसित हुआ है।

(ङ) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में 'प्रति' कर्मप्रवचनीय का प्रयोग 'एक-एक' (प्रत्येक) के अर्थ में होता है। संस्कृत में यह द्वितीया की आकांक्षा रखता है, और समस्त रूप में भी प्रयुक्त होता है। हिंदी में यह प्रायः मूल रूप में ही प्रचलित है, समानार्थक 'एक एक' के रूप में भी चलता है, पर इन दोनों अवस्थाओं में यह समस्त रूप में ही मिलता है। [इसके समस्त रूप का ध्यान छोड़कर यदि स्पष्ट रूप से कहा जाय तो कहा जा सकता है कि हिंदी में यह 'प्रति' वा 'एक एक' किसी कारक-परसर्ग की आकांक्षा नहीं रखता; इस प्रकार यहाँ यह निपात वा अव्यय के रूप में प्रयुक्त मिलता है।] संस्कृत का उदाहरण—तस्य वर्षं प्रति करभमेकं प्रयच्छति (पंचतंत्र); प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः (अभिज्ञान शाकुंतल)।

हिंदी में समस्त रूप में 'प्रति' का प्रयोग अति प्रचलित है। जैसे, प्रति दिन, प्रति मास, प्रति वर्ष, प्रति सैकड़ा आदि। एक-एक दिन—मास—वर्ष का भी प्रयोग चलता है, पर बहुत कम।

एक बात और। संस्कृत के उदाहरणों से स्पष्ट है कि वहाँ 'प्रति' के योग में द्वितीया का प्रयोग प्राप्त है। हिंदी में भी वह अपने मूल तथा पर्याय रूप में प्रायः समस्त रूप में (यथा, एक-एक दिन आदि) प्रचलित है। समास के रूप में जब यह नहीं प्रयुक्त होता तब इसके योग में कौन-सा परसर्ग लगता है ? संस्कृत में 'प्रतिदिनं' का विग्रह होगा—दिनेदिने=प्रतिदिनं; अर्थात् दिन-दिन (—में)। हिंदी में इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं—दिन का (वा में) एकएक= प्रतिदिन; अर्थात् दिन समुदाय का एक एक समुदायी। इस प्रकार

इसें ज्ञात होता है कि 'एक-एक' (=प्रति) के योग में परसर्ग 'के' वा 'में' लगा सकते हैं; पर भाषा में यह प्रचलित नहीं है।

(च) 'प्रति' का प्रयोग वीप्सा के अर्थ में भी होता है। ऐसे स्थलों पर इसका अर्थ 'अनु' का-सा ही होगा। जब यह इस अर्थ में प्रयुक्त होता है तब संस्कृत में द्वितीया की आकांक्षा रखता है और हिंदी में संबंध कारक के बोधक परसर्ग की। संस्कृत का उदाहरण—वृक्षं वृक्षं प्रति सिंचति। इसका हिंदी-रूप होगा—वृक्ष के पीछे वृक्ष सींचता है=वृक्ष के पश्चात् वृक्ष सींचता है=एक एक वृक्ष सींचता है=प्रति वृक्ष सींचता है।

(छ) संस्कृत में कर्मप्रवचनीय 'प्रति' का प्रयोग प्रतिनिधि तथा प्रतिदान का अर्थ-बोध कराने के लिये होता है।[१] संस्कृत में ऐसे स्थलों पर जिस वस्तु वा व्यक्ति से प्रतिनिधित्व वा प्रतिदान होता है उसके योग में पंचमी का प्रयोग होता है।[२] जैसे—प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति, तिलेभ्यः प्रति यच्छति माषान्।

संस्कृत के इस 'प्रति' का अर्थ हिंदी में 'समान', 'बदले' आदि होगा और इसके योग में संबंध कारक का बोधक परसर्ग लगाया जायगा। इस दृष्टि से संस्कृत के उपर्युक्त उदाहरणों के हिंदी-रूप इस प्रकार के होंगे—कृष्ण के समान वा कृष्ण के बदले प्रद्युम्न, तिल के बदले माष देता है।

संस्कृत में 'प्रति' के इस अर्थ में (बदले, समान के अर्थ में) द्वितीया का प्रयोग भी चलता है, यथा, त्वं सहस्राणि शता दश प्रति (ऋग्वेद); न च शक्तस्त्वमिमं प्रति (कथासरित्सागर)।

§ (१४३) अभि—कर्मप्रवचनीय 'अभि' का प्रयोग प्रति, परि तथा अनु के अर्थों में ही होता है। प्रधानतः इसका अर्थ है—ओर

१. प्रतिः प्रतिनिधि प्रतिदानयोः (वही, १।४।९२)।

२, प्रतिनिधि प्रतिदाने च यस्मात् (वही, २।३।११)

(=प्रति), आसपास, चारों ओर, लगभग आदि। संस्कृत में इसके योग में द्वितीया विभक्ति लगती है और हिंदी में संबंध कारक के बोधक परसर्ग का प्रयोग होता है।

महामुनि पाणिनि ने इसका प्रयोग लक्षण, इत्थंभूत और वीप्सा के अर्थों में होना बतलाया है।[1]

जब 'अभि' का प्रयोग किसी वस्तु को लक्षित कराने के लिये होता है तब यह 'चारों ओर' की व्यंजना करता है। उदाहरण— वृक्षमभि विद्योतते विद्युत्; अग्निमभि शलभाः पतंति। इन उदाहरणों को हिंदी में इस प्रकार रखेंगे—पेड़ के आसपास वा चारों ओर बिजली चमक रही है; अग्नि के आसपास वा चारों ओर शलभ गिर रहे हैं।

इत्थंभूत के बोधनार्थ 'अभि' ओर वा प्रति की व्यंजना करता है; यथा, साधुर्देवदत्तो मातरमभि, वीतमन्युर्गौतमो मामभि (कथा-सरित्सागर)। संस्कृत के प्रथम उदाहरण का हिंदी-रूप होगा—देव-दत्त माता की ओर—के प्रति—साधु है।

वीप्सा के स्थलों पर भी 'अभि' 'चारों ओर' का अर्थ देता है—वृक्षं वृक्षमभि सिंचति। वृक्ष वृक्ष के चारों ओर सींचता है= एक-एक वृक्ष के चारों ओर सींचता है=प्रति वृक्ष के चारों ओर सींचता है।

कालसूचक स्थलों पर भी 'अभि' का प्रयोग प्राप्त है, यहाँ यह 'लगभग', 'आसपास' की व्यंजना करता है; यथा, अभिसायम् (छांदोग्योपनिषद्)। हिंदी में इस उदाहरण को इस रूप में रखेंगे— 'सायंकाल के लगभग'।

§ (१४४) सु—संस्कृत में उपसर्ग 'सु' भी कर्मप्रवचनीय माना

१, लक्षणेत्थंभूताख्यान भागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः (वही १।४।९०), अभिरभागे च (वही, १।४।९१)।

गया है और यह पूजा के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[१] इसके योग में द्वितीया आती है। उदाहरण – सुसिक्तम्।[२]

संस्कृत का उपसर्ग 'सु' (=अच्छा) हिंदी में आया तो अवश्य है और बहु प्रचलित भी है, पर यहाँ यह कर्मप्रवचनीय के रूप में नहीं प्रयुक्त होता, प्रत्युत (विशेष स्थल पर प्रयुक्त) 'प्रति' की भाँति यह भी विशेषण के अर्थ में चलता है, यथा, सुभग, सुसिक्त आदि।

§ (१४५) अति—संस्कृत में 'अति' कर्मप्रवचनीय का प्रयोग किसी वस्तु वा व्यक्ति का किसी वस्तु वा व्यक्ति से बड़े, अधिक, ऊपर आदि होने के अर्थ में चलता है।[३] वहाँ ऐसे स्थलों पर इसके योग में द्वितीया विभक्ति लगती है। हिंदी में इसके साथ अपादान कारक के बोधक परसर्ग का प्रयोग होगा। उदाहरण—अति वै प्रजात्मानमति पशवः (ऐतरेय ब्राह्मण); इदं नः प्रथितं कुलम्। अत्यन्यान्पृथिवीपालान्पृथिव्यामधिराज्यभाक् (महाभारत); अति देवान् कृष्णः। हिंदी का उदाहरण—देवताओं से कृष्ण ऊपर-बड़े-अधिक हैं।

§ (१४६) अपि—महामुनि पाणिनि ने अपि (=भी) को भी कर्मप्रवचनीय माना है। उनके मत्यनुसार यह पदार्थ, संभावना (विधिलिङ्), अन्ववसर्ग ('जैसा चाहते हो वैसा करो' इस प्रकार की आज्ञा), गर्हा (निंदा), और समुच्चय के अर्थों में प्रयुक्त होता है।[४] उदाहरण—सर्पिषोऽपि स्यात्, अपिस्तुयाद्विष्णुम्।

---

१. सुः पूजायाम् (वही, १ । ४ । ९४))

२. यहाँ 'सु' कर्मप्रवचनीय है इसीलिये आगेवाले 'सिक्त' के 'स' के स्थान में 'ष' नहीं हुआ, यही इसका फल है।

३. अतिरतिक्रमेण च (वही, १ । ४ । ९५)।

४. अपिः पदार्थसंभावनाऽन्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु (वही, १ । ४ । ९६ ।)।

हिंदी में संस्कृत का 'अपि' 'भी' के रूप में चलता है, पर केवल समुच्चयबोधक अव्यय (निपात) के अर्थ में हिंदी की किसी किसी बोली में 'अपि' = 'नाम' के रूप में मिलता है। जैसे, संस्कृत के 'सर्पिषोऽपि स्यात्' का हिंदी-रूप इस प्रकार का हो सकता है—'घी का नाम होता !' अर्थात् 'घी का नाम न था।'

यदि 'अपि' का अनुवाद 'नाम' के रूप में करें तो यह 'नाम' संस्कृत कर्मप्रवचनीय 'अपि' का हिंदी-रूप हो सकता है। इसके योग में संबंधकारक के बोधक परसर्ग का प्रयोग होता है।

बनारसी बोली में यह 'नाम' खूब चलता है; यथा, 'अब की पारी त भीड़ क नावँ नहिंनी।'

§ (१४७) अधि—प्रधानरूपेण 'अधि' का अर्थ है 'ऊपर'। यह किसी पर किसी के अधिकार के बोधनार्थ प्रयुक्त भी होता है।[1] संस्कृत में इसके योग में सप्तमी का प्रयोग प्रचलित है। हिंदी में ऐसे स्थल पर संस्कृत की सप्तमी का विकास संबंध कारक के बोधक परसर्ग के रूप में हुआ है। उदाहरण—अधि पंचालेषु ब्रह्मदत्तः। इसका हिंदी-रूप होगा—ब्रह्मदत्त पंचालों पर है, अर्थात् 'ब्रह्मदत्त पंचालों के ऊपर राज्य करता है।'

संस्कृत में 'कृञ' धातु के पूर्व जब 'अधि' रहता है और स्वामित्व अर्थ का बोधक होता है, तब 'अधि' का कर्मप्रवचनीय होना वैकल्पिक होता है,[2] यथा, यदत्र मामधिकरिष्यति।

सामीप्य के अर्थ में 'अधि' की वीप्सा (द्विरुक्ति) होती है,[3] इस स्थिति में यह द्वितीया की आकांक्षा रखता है, हिंदी में यह यहाँ भी संबंध कारक के बोधक परसर्ग की आकांक्षा रखेगा। उदाहरण—

१. अधिरीश्वरे (वही, १।४।९७)।

२. विभाषा कृञि (वही, १।४।९८)।

३. उपर्यध्यधसः सामीप्ये (वही, ८।१।७)

अध्यधि सुखम्, अध्यधि ग्रामम्। हिंदी में भी इस अर्थ में इसकी द्विरुक्ति चलती है—घास के ऊपर-ऊपर। यहाँ 'ऊपर ऊपर' का अर्थ है—तनिक सा ऊपर (=निकट)। इस प्रकार 'घास के ऊपर' का अर्थ हुआ 'उर्ध्वदिशा में घास के तनिक-सा ऊपर।' अर्थात् उसके निकट।

इस प्रकार हमारा 'कारक और उपसर्ग' का विवेचन समाप्त होता है। इसके द्वारा हमें ज्ञात हुआ कि संस्कृत में कर्मप्रवचनीय के रूप में प्रयुक्त उपसर्गों का आगमन हिंदी में प्रायः उनके अर्थों को व्यक्त करनेवाले शब्दों के रूप में हुआ है, तत्सम वा मूल रूप में वे बहुत ही कम आए हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी लक्षित होती है कि संस्कृत में कर्मप्रवचनीय के योग में प्रायः कर्मकारक की विभक्ति द्वितीया लगती है; हिंदी में ऐसे स्थलों पर प्रयुक्त द्वितीया का विकास प्रायः संबंध कारक के बोधक परसर्ग के रूप में हुआ है, यह बात उपर्युक्त विवेचनों तथा उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो गई होगी।

———

(२) कारक और निपात

§ (१४८) 'कारक और उपसर्ग' शीर्षक के अंतर्गत संस्कृत की दृष्टि से तो हमने कारक और उपसर्ग पर विचार किया है, पर हिंदी की दृष्टि से वह कारक और निपात का ही विवेचन है, क्योंकि संस्कृत के उपसर्गों का अनुवाद हिंदी के निपातों द्वारा ही हुआ है; उपसर्गों द्वारा होता भी कैसे, हिंदी के उपसर्ग[१] ही कितने हैं !

इस 'कारक और निपात' के अंतर्गत भी हमारी दृष्टि संस्कृत से होती हुई हिंदी पर आएगी। संस्कृत के कुछ निपात कुछ कारक-विभक्तियों की आकांक्षा रखते हैं। वे ही निपात तत्सम, अनूदित वा विकसित रूप में हिंदी में आकर किन कारक-परसर्गों की आकांक्षा रखते हैं, हमें यही देखना है।

संस्कृत में कर्मप्रवचनीय के रूप में प्रयुक्त उपसर्ग प्रायः द्वितीया की आकांक्षा रखते हैं, वे ही जब हिंदी में अपने विकसित वा अनूदित रूप में आते हैं तब प्रायः संबंध कारक के बोधक परसर्ग की आकांक्षा रखते हैं, यह हम पूर्व के प्रकरण में देख चुके हैं। विभिन्न कारक-विभक्तियों के आकांक्षी संस्कृत के निपात भी हिंदी में तत्सम, अनूदित वा विकसित रूप में प्रायः संबंधकारक के ही परसर्ग की आकांक्षा रखते हैं। यह आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा। इस दृष्टि से

---

१. यहाँ उपसर्गों से तात्पर्य प्रायः उन उपसर्गों से है जो अपने तत्सम वा मूल रूप में संस्कृत की परंप्रा से हिंदी में आकर वहीं की भाँति कर्मप्रवचनीय रूप में प्रयुक्त होते हैं, यथा, अभि, अधि, परि आदि

संस्कृत में कर्मप्रवचनीय के रूप में प्रयुक्त उपसर्ग और निपात हिंदी में केवल निपात की श्रेणी में आते हैं।

यहीं एक और बात स्पष्ट हो जानी चाहिए। संस्कृत तथा हिंदी दोनों में एक निपात के अनेक पर्याय हो सकते हैं और होते हैं। इस स्थिति में ये प्रायः तो एक ही कारक-विभक्ति वा परसर्ग की आकांक्षा रखते हैं, पर कभी-कभी इनके योग में दूसरी कारक-विभक्तियाँ भी प्रयुक्त हो सकती हैं। एक ही निपात अनेक अर्थों में भी प्रयुक्त होकर अनेक कारक-विभक्तियों की आकांक्षा रख सकता है।

§ (१४९) संस्कृत में प्रायः निम्नांकित निपात वा अव्यय[1] कारक की आकांक्षा रखते हैं—अंतर्, ऋते, विना, नाना, अंतरा, अंतरेण, पृथक्, बहिस्, आरात्, समया, निकषा, साकम्, सार्द्धम्, समम्, सह, वत, पुरः, पुरा, परः, तिरः, उपरि, अधः, प्रभृति, उर्ध्वम्, अनंतरम्, अग्रे, यावत्।

इतने निपातों से ही समाप्ति न समझनी चाहिए, इनके पर्यायवाची शब्द भी निपात के रूप में साहित्य में प्रयुक्त मिलते हैं, आगे हम इन्हें देखेंगे।

संस्कृत के इन निपातों में से कुछ तत्सम रूप में हिंदी में प्रयुक्त मिलते हैं, पर प्रायः इनके अर्थबोधक अन्य शब्द ही चलते हैं।

इन निपातों में से कुछ का विवेचन तो विभिन्न कारकों पर विचार करते हुए थोड़ा-बहुत हो चुका है। जिनका विवेचन हो चुका है उनका संकेत मात्र करते हुए हम आगे जिनपर विचार नहीं हुआ है उनके विषय में कुछ कहेंगे।

§ (१५०) अंतर्—संस्कृत तथा हिंदी दोनों में 'अंतः' स्थान-बोधक 'भीतर' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। संस्कृत में इसके योग में

---

१. सदृशं त्रिषु लिंगेषु सव तु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

सप्तमी विभक्ति लगाई जाती है। हिंदी में संस्कृत की इस सप्तमी का विकास संबंध कारक के परसर्ग के रूप में हुआ है। संस्कृत में भी कभी-कभी इसके योग में षष्ठी का भी प्रयोग मिलता है। उदाहरण—सोऽपि नीतस्तमस्यंतः पुरोहितः (कथासरित्सागर); अपामंतरुप्तं वीजम् (कुमारसंभव)।

प्रथम उदाहरण को यदि संस्कृत की ही कारक-विभक्ति में रखें तो वह हिंदी में अपरिचित प्रयोग-सा ज्ञात होगा; पर संबंध कारक के परसर्ग में रखने से वह ऐसा प्रतीत नहीं होता, यथा, 'वह पुरोहित भी अंधकार में भीतर ले जाया गया[१]।' संबंधकारक के परसर्ग में इसका रूप—'वह पुरोहित भी अंधकार के भीतर ले जाया गया।'

संस्कृत तथा हिंदी दोनों में निपात अंतः वा 'भीतर' के योग में अधिकरण तथा संबंध विभक्तियों वा परसर्गों का प्रयोग न करके केवल स्थानवाचक अधिकरण-विभक्ति वा परसर्ग का भी प्रयोग करें तो अर्थ में कोई भिन्नत्व उपस्थित न होगा। देखिए § ६६ (क) (१)।

संस्कृत में नाम के साथ 'अंतः' का अव्ययीभाव समास भी होता है—अहं सलिलांतः प्रविष्टः (पंचतंत्र)।

हिंदी की साहित्यारूढ़ भाषा में नाम के साथ निपात 'भीतर' का समास बहुत ही कम प्राप्त है।

§ (१५१) ऋते—'ऋते' का प्रयोग प्रायः अभावसूचक निपात 'अतिरिक्त' और कभी-कभी 'विना' के अर्थ में होता है। 'अतिरिक्त' (ऋते) कभी-कभी किसी की 'अनुपस्थिति' भी व्यक्त करता है। 'ऋते' का प्रयोग हिंदी (किसी को--) 'छोड़कर' के अर्थ में भी प्राप्त है। संस्कृत में इस निपात के योग में बहुधा पंचमी का प्रयोग प्रचलित है, इसके योग में यहाँ द्वितीया भी चलती है। हिंदी में 'ऋते' का

१. यह सप्तमी 'अंतः' के योग में नहीं ज्ञात होती, प्रत्युत भावलक्षण सप्तमी प्रतीत होती है।

अर्थबोधक 'अतिरिक्त', 'छोड़कर' के साथ प्रायः संबंध के और कभी-कभी कर्म के परसर्ग का भी प्रयोग मिलता है। तीन अर्थों में प्रयुक्त ऋते (अतिरिक्त) को हम तीन श्रेणियों में रखकर विचार करेंगे।

(१) संस्कृत के प्रयोगों को देखने से विदित होता है कि 'ऋते' के साथ प्रायः 'अन्य' का प्रयोग होता है, जैसे, कालिदासादृतेऽन्यं कविं न मन्ये (भोजप्रबंध), किं नु खलु मे प्रियादर्शनादृते शरणमन्यत् (अभिज्ञान शाकुंतल)।

हिंदी में इन उदाहरणों के योग में संबंध कारक का परसर्ग प्रयुक्त होगा। प्रथम उदाहरण को देखिए—'कालिदास के अतिरिक्त दूसरे कवि को नहीं मानता।'

(२) ऋते (अतिरिक्त) का प्रयोग 'अनुपस्थिति' (न रहने पर) के अर्थ में भी होता है—ऋते तु पुत्राद्दहनं महीपतेर्नारोचयन् (रामायण)। 'पुत्र के अतिरिक्त वा बिना राजा (दशरथ) के दाह को न स्वीकार किया।' का अर्थ होगा—'पुत्र की अनुपस्थिति में—पुत्र के न रहने पर—राजा के दाह को न स्वीकार किया।'

ऐसे स्थलों पर हिंदी में प्रायः 'अनुपस्थिति में', 'न रहने पर' का भी प्रयोग होता है, 'अतिरिक्त' वा 'बिना' का नहीं, यथा, उनके न रहने पर (=बिना) मैं तो तुम्हारी सेवा के लिये हूँ ही।

(३) 'ऋते' वा 'अतिरिक्त' का प्रयोग हिंदी 'छोड़कर' के अर्थ में भी होता है। इस स्थिति में इसके योग में संस्कृत तथा हिंदी दोनों में द्वितीया वा कर्म-परसर्ग का प्रयोग विशेष प्रचलित है—प्रविशंतं च मां तत्र न कश्चिद् दृष्टवान्नरः। ऋते तां पार्थिवसुतां (नलोपाख्यान)।

संस्कृत के इस 'ऋते' को यदि हिंदी 'अतिरिक्त' के रूप में रखें तो इसके योग में संबंध कारक के परसर्ग का प्रयोग होगा—'उस राजकुमारी के अतिरिक्त।' और यदि 'छोड़कर' वा 'छोड़' के रूप में रखें तो हिंदी में भी इसके योग में कर्म कारक के परसर्ग का प्रयोग

होगा—राजकुमारी को छोड़ वहाँ जाते हुए मुझे किसी ने न देखा। देखिए § ६३ (फ)।

§ (१५२) **विना, नाना**--संस्कृत में 'विना' तथा 'नाना' पर्यायवाची हैं, हिंदी में 'नाना' 'अनेक' के अर्थ में चलता है 'विना' के अर्थ में नहीं। 'विना' तथा 'नाना' का प्रयोग भी 'ऋते' (अतिरिक्त) की भाँति अभावसूचक वा अनुपस्थितिबोधक के अर्थ में होता है। संस्कृत में 'विना', 'नाना' के योग में द्वितीया, तृतीया वा पंचमी विभक्ति लगती है[१]। हिंदी में ऐसे स्थलों पर वहाँ की उपर्युक्त तीनों कारक-विभक्तियों का विकास केवल संबंध-परसर्ग में हुआ है। संस्कृत का उदाहरण—अहं त्वया विना नात्र वस्तुं शक्नोमि (पंचतंत्र); सा पुनर्न शक्ता त्वां विना स्थातुम् (वही); तादृशाद् भाग्यराशेर्विना (दशकुमारचरित)।

हिंदी का उदाहरण—विना उनकी आज्ञा के मैं कोई काम नहीं कर सकता (चित्रलेखा); ससि बिन सूनी रैन, ज्ञान बिन हिरदय सूनो। कुल सूनो बिन सुअन, बिटप ज्यों पुहुप बिहीनो।

हिंदी में 'उनकी आज्ञा को वा से बिना' का प्रयोग प्राप्त नहीं है। 'विना', 'अतिरिक्त' आदि के पर्याय के अर्थ में जब कृदंत 'रहित', 'वंचित' आदि का प्रयोग होता है, तब इसके योग में अपादान-परसर्ग का प्रयोग हिंदी में होता है, यथा, 'सुख-दुःख से रहित वा वंचित मनुष्य-जीवन को अपूर्ण समझना चाहिए।' यहाँ 'सुख-दुःख से रहित वा वंचित' का अर्थ है 'सुख-दुःख के विना।' देखिए § ८४ (र)।

संस्कृत तथा हिंदी दोनों में 'विना' का प्रयोग 'अतिरिक्त', 'छोड़कर' के अर्थ में भी होता है, यथा, विना मलयमन्यत्र चंदनं न प्ररोहति

१. पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् (अष्टाध्यायी, २।३।३२)।

(पंचतंत्र)। इसका हिंदी-रूप होगा—'मलय (गिरि) के अतिरिक्त दूसरे स्थान में चंदन नहीं उत्पन्न होता।' यहाँ 'मलयगिरि के विना' द्वारा स्पष्ट अर्थ-बोध न होगा।

§ (१५३) **पृथक्**—संस्कृत तथा हिंदी दोनों में निपात 'पृथक्' का प्रयोग भिन्नत्व-बोधनार्थ होता है। हिंदी में 'पृथक्' का भी प्रयोग होता है और इसके पर्यायवाची 'भिन्न' आदि शब्दों का भी। महामुनि पाणिनि की दृष्टि से 'पृथक्' भी द्वितीया, तृतीया वा पंचमी की आकांक्षा रखता है। पर, साहित्य में प्रायः पंचमी का प्रयोग ही प्राप्त है। हिंदी में भी इसके योग में अपादान-परसर्ग का ही प्रयोग होता है। उदाहरण—रामाद्रामेणरामं वा विना पृथग् नाना वा (सिद्धांतकौमुदी); राजधर्मः पृथग्विद्वद्धर्मात् (भोजप्रबंध)। हिंदी में भी यही कहेंगे कि—'राजत्व पंडिताई से पृथक् वा भिन्न है।'

§ (१५४) **अंतरा, अंतरेण**—निपात 'अंतरा' और 'अंतरेण' का प्रयोग प्रायः चार अर्थों में प्राप्त है—(१) बहुधा स्थानसूचक मध्य में, बीच में आदि अर्थ में, (२) विना के अर्थ में, (३) अतिरिक्त के अर्थ में तथा (४) किसी वस्तु वा व्यक्ति से संबंध-ज्ञापनार्थ। संस्कृत में इनके साथ द्वितीया का प्रयोग होता है[१]। हिंदी में ये संबंध-परसर्ग की आकांक्षा रखते हैं। इनके एक एक अर्थ को लेकर हम इनपर विचार करते हैं।

(१) अंतरा तथा अंतरेण का प्रयोग स्थानसूचक मध्य में वा से या बीच में वा से के अर्थ में होता है; ये अँगरेजी के निपात 'बिट्वीन' तथा 'थ्रू' की स्पष्ट व्यंजना करते हैं। उदाहरण—यावद्विटपांतरेणावलोकयामि (अभिज्ञान शाकुंतल); अंतरा त्वां च मां च कमंडलुः (महाभाष्य)।

---

१. अंतरांतरेण युक्ते (वही, २।३।४)।

संस्कृत के प्रथम उदाहरण को यदि हम हिंदी रूप दें तो वह इस प्रकार का होगा—'तबतक पेड़ के मध्य से वा बीच से देखता हूँ।' यहाँ 'मध्य से' का तात्पर्य अँगरेजी 'थ्रू' से है।

हिंदी की बोलचाल की भाषा में तथा कभी-कभी साहित्यारूढ़ भाषा में भी इस 'मध्य वा बीच से' के लिये केवल 'से' का प्रयोग भी होता है। जैसे, 'चिड़िया खिड़की से उड़ गई।' इसका विस्तृत अर्थ होगा—'चिड़िया खिड़की के मध्य वा बीच से उड़ गई।' बनारसी बोली में भी ऐसा प्रयोग प्राप्त है, यथा, 'चिरैया खिरकी से उड़ गइल।'

दूसरे उदाहरण का हिंदी-रूप होगा—तुम्हारे और हमारे बीच में कमंडल है। बीच में = बिट्वीन

(२) 'विना' के अर्थ में भी इन दोनों निपातों का प्रयोग होता है। उदाहरण—अंतरेणापि मंत्रमग्निः कपालानि संतापयति—(महाभाष्य); तत्र त्वां ज्ञ्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमंतरा (रामायण)। हिंदी उदाहरण—मंत्र के बिना भी अग्नि खप्परों को तपा रही है।

इन उदाहरणों द्वारा हमारा लक्ष्य यहां दिखाने का है कि 'अंतरा' तथा 'अंतरेण' हिंदी में 'विना' के अर्थ में ही आते हैं, अन्यथा इनमें कोई विशेषता नहीं है।

(३) यद्यपि सामान्यतः 'विना' तथा 'अतिरिक्त' कभी-कभी पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं तथापि इनमें कुछ भेद है अवश्य। 'तुम्हारे बिना मैं नहीं जाऊँगा' का अर्थ 'तुम्हारे अतिरक्त मैं नहीं जाऊँगा' द्वारा स्पष्टतः नहीं व्यक्त होता। प्रयोगों के अवलोकन से विदित होता है कि मूलतः 'विना' द्वारा शुद्ध 'अभाव' की व्यंजना होती है और 'अतिरिक्त' प्रायः 'एक के न रहते दूसरे' की व्यंजना करता है। उदाहरणों से यह बात कुछ स्पष्ट हो जायगी—'तुम्हारे बिना मैं रह गया', 'उनके अतिरिक्त वे चले जायँ।' प्रथम उदाहरण

में शुद्ध अभाव की तथा द्वितीय में 'एक के न रहते दूसरे' की व्यंजना स्पष्ट है। जैसे उर्दू के 'बगैर' तथा 'अलावा' में और अँगरेजी के 'विदाउट' तथा 'एक्सेप्ट' में अंतर है वैसे ही हिंदी के 'बिना' और 'अतिरिक्त' में भी। उदाहरण—कोऽन्यस्त्वामंतरेण शक्तः प्रतिकर्तुं (वेणीसंहार)। संस्कृत के इस उदाहरण का हिंदी-रूप इस प्रकार का होगा—'तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कौन प्रतिकार करने के लिये योग्य है।'

(४) किसी वस्तु वा व्यक्ति से संबंध-ज्ञापनार्थ का तात्पर्य 'किसी के विषय में' से है। इस प्रकार 'अंतरेण' का प्रयोग हिंदी में 'विषय'-बोधक के अर्थ में भी होता है। उदाहरण—भवंतमंतरेण कीदृशोऽस्या दृष्टिरागः (अभिज्ञान शाकुंतल) 'आप के विषय में उसका दृष्टिराग किस प्रकार का है!'

§ (१५५) बहिस् (बहिः)—'बहिः' का प्रयोग प्रायः स्थान-सूचक 'बाहर' के अर्थ में होता है। संस्कृत में नियमतः 'बहिः' के योग में पंचमी का प्रयोग होता है, पर कभी-कभी इसके साथ षष्ठी का प्रयोग भी प्राप्त है। इसी प्रकार हिंदी में यह प्रायः संबंध-परसर्ग की आकांक्षा रखता है, पर कभी-कभी इसके योग में अपादान-परसर्ग भी लगाया जाता है। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि संस्कृत की पंचमी प्रधानतः संबंध-परसर्ग के रूप में विकसित हुई है, यद्यपि संस्कृत तथा हिंदी दोनों में पंचमी वा अपादान-परसर्ग तथा षष्ठी वा संबंध-परसर्ग का प्रयोग मिलता है। संस्कृत का उदाहरण—त्वं जलाद् बहिर्मव (पंचतंत्र); अदर्शं च मार्गाभ्यासवर्तिनः कस्यापि क्षपणक विहारस्य बहिः······कमपि क्षपणकम् (दशकुमारचरित)। हिंदी का उदाहरण—दोनों उसी तरह हाथ पकड़े हुए बँगले के बाहर निकल जाते हैं (सिंदूर की होली); धनिया का घमंड तो सँभाल से बाहर हो हो जाता था (गोदान)।

यद्यपि शुद्ध स्थानसूचक के अर्थ में 'बाहर' के साथ प्रायः संबंध-परसर्ग का प्रयोग प्राप्त है तथापि इस अर्थ में भी अपादान-परसर्ग चलता है; लोग 'तुम्हें घर के बाहर निकाल दूँगा' न लिख वा बोलकर 'तुम्हें घर से बाहर निकाल दूँगा' ही लिखते वा बोलते हैं।

'बाहर' का प्रयोग लाक्षणिक अर्थों में भी होता है, जैसा कि हिंदी के द्वितीय उदाहरण 'धनिया का घमंड······' से स्पष्ट है। अन्य अर्थों में भी इसका लाक्षणिक प्रयोग चलता है; जैसे, "मैं तुमसे बाहर कब हूँ ?' इसका अर्थ होगा 'मैं सदैव तुम्हारे साथ हूँ—तुमसे सहमत हूँ।'

यहाँ तनिक ध्यान में रखने की बात यह है कि लाक्षणिक अर्थों में प्रयुक्त 'बाहर' प्रायः अपादान-परसर्ग की ही आकांक्षा रखता है।

§ (१५६) **आरात्, समया, निकषा**—संस्कृत के ये तीनों निपात स्थानसूचक 'निकट' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। हिंदी में ये अपने मूल रूप में न प्रयुक्त होकर अनूदित रूप में प्रचलित हैं। संस्कृत में 'आरात्' के योग में पंचमी[१] तथा 'समया' और 'निकषा' के योग में द्वितीया का प्रयोग होता है।[२] हिंदी में इनके अर्थ में प्रचलित 'निकट' के योग में अपादान-परसर्ग तथा संबंध-परसर्ग समानरूपेण चलते हैं। उदाहरण—आराद्वनात् (सिद्धांतकौमुदी); ग्रामं समया निकषा (वही); समया सौधभित्तिं······प्रसुप्तमङ्गनाजनमलक्षयम् (दशकुमार-चरित)।

हिंदी में 'गाँव से निकट—पास—समीप आदि' का भी प्रयोग चलता है और 'गाँव के निकट—पास—समीप आदि' का भी। वस्तुतः बात यह है कि 'निकट' के द्वारा कुछ 'दूरत्व' की भी व्यंजना होती है और 'निकटत्व'

---

१. अन्यारादितरर्तेदिकशब्दाञ्चूत्तरपदाजाहि युक्ते—(वही, २।३।२९)

२. अभितः परितः समया निकषाहा प्रतियोगेऽपि—वार्तिक।

की तो होती ही है। 'मेरा घर सड़क के निकट है' का अर्थ होगा 'मेरा घर सड़क से कुछ—तनिक दूर है'। इसी प्रकार 'मेरा घर सड़क के निकट है' का अर्थ होगा 'मेरा घर सड़क के पास है।' तात्पर्य यह कि जो व्यंजना अपादान-परसर्ग द्वारा निकलती है वही संबंध-परसर्ग द्वारा भी। और यही कारण है कि ऐसे स्थलों पर 'निकट' के योग में हिंदी में अपादान तथा संबंध दोनों कारकों के परसर्गों के प्रयोग चलते हैं। उदाहरण—जेहि पंखी के निअर होइ, कहै बिरह कै बात। सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात (जायसी-ग्रंथावली)।

स्थानसूचक के रूप में प्रयुक्त निकटत्वबोधक निपात 'निकट—समीप—पास' आदि हिंदी में लाक्षणिक अर्थों में भी चलते हैं, जैसे, 'ज्यों-ज्यों काल बीतता जाता है त्यों-त्यों मैं अपने को गुरुदेव के पास-निकट- समीप पाता हूँ।' इसका तात्पर्य यह है कि 'दिन-दिन मेरा तथा गुरुदेव का संबंध घनिष्ठ होता जाता है।' इस प्रकार निकटत्वबोधक ये निपात लाक्षणिक अर्थों में घनिष्ठत्वबोधक हो जाते हैं।

§ (१५७) **साकं, सार्द्धं, समं, सह**—सहवाचक इन निपातों में से केवल दो—सह तथा समं—का प्रयोग संस्कृत में विशेष चलता है। हिंदी में केवल 'सह' का प्रयोग कभी-कभी ही मिलता है, अन्यथा इनमें से कोई भी अपने मूल रूप में हिंदी में नहीं प्रयुक्त होता। इन निपातों के हिंदी-पर्याय सँग, साथ, सहित, समेत आदि यहाँ प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत में इनके योग में तृतीया का प्रयोग प्रचलित है, और हिंदी में संबंध-परसर्ग का। और विवेचन तथा उदाहरण के लिये देखिए § ८४ (य)।

संस्कृत तथा हिंदी दोनों में इन निपातों में से प्रधानतः केवल 'सह' नाम के साथ समास रूप में प्रयुक्त होता है। इस स्थिति में प्रायः 'सह' (साथ) का अर्थबोधक केवल 'स' नाम के साथ लगता है। संस्कृत में भी 'सरोषम्', 'सशरीरम्' आदि का प्रयोग चलता है और

हिंदी में भी 'सशरीर', 'सरोष' आदि प्रचलित हैं। 'सशरीर', 'सरोष' का अर्थ होगा – शरीर के साथ (--पूर्वक), रोष के साथ (--पूर्वक)।

संस्कृत में 'सह' का प्रयोग भी 'स' के समान होता है, और यह उसी की भाँति प्रायः नाम के पूर्व स्थित होता है। जैसे, सहभृत्यगणं सबांधवं सहमित्रं ससुतं सहानुजं। स्वबलेन निहंति......पांडुसुतः सुयोधनम्—(वेणीसंहार)। यहाँ 'सहभृत्यगण' तथा 'सहमित्र' का अर्थ है 'भृत्यगण के साथ' तथा 'मित्र के साथ'।

पर, जब हिंदी में 'सह' की स्थिति किसी नाम के पूर्व होती है तब वह 'के साथ' का अर्थ न देकर केवल 'साथ' का अर्थ देता है, यथा, सहकारी, सहपाठी आदि। इनका अर्थ होगा 'साथ काम करनेवाला', 'साथ पढ़नेवाला'। हाँ, जब 'सह' 'सहित' के रूप में प्रयुक्त होता है तब वह 'के साथ' 'पूर्वक' आदि का अर्थ देता है, और इसकी स्थिति नाम के पश्चात् होती है, यथा, 'मित्रसहित', 'पुत्रसहित' आदि। 'मित्रसहित' तथा 'पुत्रसहित' की अभिधा क्रमशः 'मित्र के साथ' तथा 'पुत्र के साथ' होगी।

वत्—तुल्यतावाचक निपात सदृश, वत्, सम, समान, तुल्य आदि के विवेचन तथा उदाहरण के लिये देखिए § ८४ (ल)।

§ (१५८) **पुरः**—संस्कृत में स्थानवाचक 'पुरः' के अनेक पर्याय हैं, यथा, पुरतः, पुरस्तात्, अग्रे, अग्रतः आदि। यह 'पुरः' कालवाचक निपात के रूप में भी प्रयुक्त होता है, पर, बहुत कम। हिंदी में यह निपात तत्सम रूप में नहीं मिलता। स्थानवाचक इसके हिंदी-पर्याय 'आगे', 'संमुख', 'सामने', 'समक्ष', '(अमुक के) रहते हुए' आदि हैं। हिंदी में कालवाचक इसके पर्याय भी कई हैं; जैसे, आगे, पूर्व, पहले आदि। संस्कृत में इसके योग में षष्ठी का प्रयोग होता है। हिंदी में भी यह प्रायः संबंध कारक के परसर्ग की आकांक्षा रखता है। उदाहरण—(स्थानवाचक)—ततः प्रविशंति मुनयः पुरश्चैषां कंचुकी

पुरोहितश्च (अभिज्ञान शाकुंतल); तस्या अग्रे निचिक्षेप (पंचतंत्र); तस्य (पशोः) पुरस्तादुल्मुकं हरंति । (कालसूचक)—तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः (अभिज्ञान शाकुंतल); पुरतः कृच्छ्रकालस्य धीमाञ्जागर्ति पूरुषः (महाभारत)।

हिंदी का उदाहरण—(स्थानवाचक)—संसार के आगे—संमुख—सामने—समक्ष अपना दुखड़ा रोकर भी आज कोई सहायता की आशा कैसे रखे ! (कालसूचक) चार दिन के पहले—आगे—पूर्व ही उन्होंने अपने पुत्र को सब कुछ सहेज दिया था।

कालवाचक 'आगे' आदि के योग में पंचमी का भी प्रयोग प्रचलित है। संस्कृत में भी कालवाचक 'पुरः' के पर्याय 'प्राक्' तथा 'पूर्वम्' के योग में पंचमी चलती है; जैसे—अभिगमनात्पूर्वम् (रघुवंश)। हिंदी में भी 'चार वर्ष के पूर्व' तथा 'चार वर्ष से पूर्व' दोनों का प्रयोग होता है।

हिंदी में विशेषतः स्थानवाचक निपात 'आगे' को लेकर प्रायः लाक्षणिक प्रयोग भी चलता है। यथा, बेटा बाप से (वा के) पाँच हाथ आगे है।

पुरा—प्रायः वैदिक संस्कृत में इस निपात का प्रयोग भी कालवाचक 'पहले', 'पूर्व' आदि के अर्थ में होता है और इसके साथ पंचमी विभक्ति लगाई जाती है। हिंदी में भी 'पहले', 'पूर्व' आदि की भाँति इसके साथ भी अपादान तथा संबंध दोनों परसर्गों का प्रयोग हो सकता है। संस्कृत का उदाहरण—पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणात् (छांदोग्योपनिषद्)। हिंदी का उदाहरण—सूर्योदय के वा से पूर्व वा पहले ही सैनिकगण आक्रमण के लिये सुसज्जित हो चुके थे।

§ (१५६) **परः**—संस्कृत में 'परः' के पर्याय के रूप में कई निपात प्रयुक्त होते हैं, यथा, 'परं', 'परतः', 'परस्तात्', 'परेण', 'उर्ध्वम्', 'अनंतरम्', पश्चात् आदि। ये सभी निपात प्रायः देश

तथा कालवाचक 'परे' तथा 'पश्चात्' की व्यंजना करते हैं। इन निपातों में से 'पर', 'अनंतर' तथा 'पश्चात्' हिंदी में तत्सम् रूप में चलते हैं। यहाँ 'उर्ध्वम्' 'ऊपर' वा 'आगे' के रूप में प्रयुक्त होता है। संस्कृत में 'परः' वा 'परम्', 'अनंतरम्', 'ऊर्ध्वम्' के योग में पंचमी विभक्ति का प्रयोग प्रचलित है, और 'पश्चात्' के योग में षष्ठी का। हिंदी में 'पर', 'अनंतर', 'पश्चात्' के साथ संबंध-परसर्ग लगाया जाता है, और 'ऊपर' के साथ अपादान तथा संबंध दोनों कारकों के परसर्गों का प्रयोग मिलता है। हिंदी में इन निपातों के पर्यायवाची 'पीछे', आदि भी चलते हैं। 'ऊपर', 'अनंतर', 'पर' प्रायः काल-बोधनार्थ प्रयुक्त होते हैं और 'पश्चात्' देश-काल दोनों सूचित करने के लिये।

उदाहरण—ऊर्ध्वम्—ऊर्ध्वं म्रिये मुहूर्ताद्धि (भट्टिकाव्य)। संस्कृत में इसके साथ पंचमी का प्रयोग होता है, इसे हम ऊपर कह चुके हैं। हमें यह भी ज्ञात है कि हिंदी में इसके साथ संबंध तथा अपादान दोनों कारकों के परसर्ग प्रयुक्त होते हैं। जैसे, 'पाँच बजे के वा से ऊपर वे गए।' यहाँ 'ऊपर' का अर्थ 'अनंतर', 'पश्चात्' स्पष्ट है। हमें यह भी ज्ञात है कि यह काल-बोधनार्थ ही आता है।

बनारसी बोली में इस अर्थ में 'ऊपर' का प्रयोग बहु प्रचलित है—'ऊ पाँच बजे से वा के ऊपर गइलन।'

उदाहरण—अनंतरम्—पुराणपत्रापगमादनंतरं लता (रघुवंश)। यह केवल काल-बोधनार्थ ही आता है। हिंदी का उदाहरण—'मैं उनके अनंतर-पीछे-पश्चात् आया।' हिंदी में इसके योग में संबंध-परसर्ग का ही प्रयोग होता है।

उदाहरण—परम्—अभिवादात्परम्, अस्मात्परं (अभिज्ञान शाकुंतल)। यह प्रायः काल का ही बोध कराता है। हिंदी में इसके साथ संबंध कारक का परसर्ग लगाया जाता है। यहाँ यह 'पर' के रूप

में चलता है – मजे से राज का सुख भोग रहे हैं, उसपर दुखी हैं (गोदान) [उसपर = उसके पश्चात् (भी)]।

बोलचाल में तो यह खूब चलता है। जैसे, तीन लड़कियों पर एक लड़का पैदा हुआ (लड़कियों पर = लड़कियों के पश्चात्) बनारसी बोली में भी यह 'पर' इसी रूप में चलता है—'चुनिया पर रघवा भइल।'

उदाहरण – पश्चात् – यह निपात हिंदी में तत्सम रूप में भी चलता है। संस्कृत में इसके योग में षष्ठी का और हिंदी में भी संबंध-परसर्ग का प्रयोग होता है। यह देश-काल दोनों का बोध कराता है। संस्कृत का उदाहरण—अहं प्राविशं मम पश्चाच्च शर्ववर्मा (कथासरित्सागर); अस्य पश्चान्नान्यः सुहृन्मे (पंचतंत्र)। हिंदी का उदाहरण –'उनके पश्चात्-पीछे खड़े हो जाओ', 'चार दिन के पीछे-पश्चात् आना।'

§ (१६०) **उपरि, अधः** – ये निपात हिंदी में दिशावाचक 'ऊपर' तथा 'नीचे' के रूप में प्रयुक्त होते हैं, इनका लाक्षणिक प्रयोग भी प्रचलित है। इन दोनों निपातों के विषय में हम § ७३ में लिख चुके हैं, इसलिये वह अंक द्रष्टव्य है।

'अधः' (हिंदी—नीचे, तले) के विषय में हमें और कुछ नहीं कहना है। 'उपरि' (हिंदी—ऊपर, पर) दिशावाचक के अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त होता है, यहाँ उन्हीं अर्थों के संबंध में हम कुछ कहेंगे।

'ऊपर' (पर) का प्रयोग (१) देश, (२) काल, (३) पद, (४) विषय वा निमित्त तथा (५) प्रत्यक्ष, समक्ष आदि के बोधनार्थ भी होता है। इन सभी स्थितियों में 'ऊपर' प्रायः संबंध-विभक्ति वा परसर्ग की आकांक्षा रखता है।

(१) देशवाचक—उदाहरण—उपरि शिरसो घटं धारयति (काशिकावृत्ति)। हिंदी का उदाहरण—महाराज के शिर पर मुकुट सुशोभित था, जिसमें पन्ने की कलँगी लगी थी।

देशवाचक ऊपर (उपरि) का प्रयोग लाक्षणिक अर्थों में भी होता है। उदाहरण—देशानामुपरि क्ष्माभृदातुराणां चिकित्सकाः (पंचतंत्र)। हिंदी का उदाहरण—उन्हीं के ऊपर सब दार-मदार है; तुम्हें इतना व्यग्र होने की आवश्यकता क्या है, पाव भर अन्न के ऊपर तो तुम्हारा रात-दिन बीतता है।

(२) कालवाचक—उदाहरण—उपरि मुहूर्तस्योपाध्यायश्चेदागच्छेत् (काशिकावृत्ति)। हिंदी का उदाहरण—उनको गए चार दिन के ऊपर हो गया।

ऐसे स्थलों पर संस्कृत का 'ऊर्ध्वम्' तथा 'उपरि' पर्याय रूप में चलता है; और हिंदी का 'ऊपर' तो सर्वत्र एक रूप में है ही। देखिए § १५६।

(३) पदसूचक—उदाहरण—तां देवीनामुपरि कृतवान् (कथा-सरित्सागर) इस उदाहरण का हिंदी-रूप इस प्रकार का होगा—उसे रानियों के ऊपर किया, अर्थात् उसका पद वा अधिकार रानियों के पद वा अधिकार से ऊपर किया। वह अन्य रानियों से ऊपर हो गई।

पदसूचक 'ऊपर' के विषय में तनिक ध्यान देने की बात यह है कि यह प्रायः किसी के पद वा आदर-संमान आदि की वृद्धि का बोध कराने के लिये ही प्रयुक्त होता है।

किसी पद पर किसी व्यक्ति की नियुक्ति के अर्थ में निपात 'ऊपर' का प्रयोग स्थानवाचक अधिकरण की भाँति हो सकता है, यथा, पांडेय जी की नियुक्ति प्रधानाध्यापक के पद पर हुई है। यहाँ 'पद के ऊपर' का दो तात्पर्य हो सकता है, पहला यह कि 'पांडेय जी की नियुक्ति

प्रधानाध्यापक के पद पर हुई है', और दूसरा यह कि 'पांडेय जी की नियुक्ति प्रधानाध्यापक के पद से ऊँचे किसी पद पर हुई है।'

(४) विषय वा निमित्तवाचक—उदाहरण—विरक्तिः संजाता मे सांप्रतं देशस्यास्योपरि (पंचतंत्र); अहो राजपरिजनस्य चाणक्यस्योपरि विद्वेषपक्षपातः (मुद्राराक्षस); किं तव ममोपरि चिंतया (पंचतंत्र); न दीनोपरि महांतः कुप्यंति (वही)।

हिंदी का उदाहरण—जीवन में ऐसी परिस्थितियों का आगमन स्वाभाविक होता है जब मनुष्य अपने कृतकर्म के कारण अपने (—के—) ऊपर (=स्वयं पर) ही क्रोध करता है, [अपने (—के—) ऊपर = अपने (—के—) प्रति]; उसे उन घृणित कृत्यों के ऊपर ग्लानि और घृणा थी, पर वह भागकर जाय भी तो कहाँ ! (कृत्यों के ऊपर=कृत्यों के प्रति); अभी समझाता हूँ नहीं मानते हो, बाद में अपने किए पर रोओगे (किए पर=किए के लिये—निमित्त सप्तमी की भाँति)।

ऊपर के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि ऐसे स्थलों पर निपात 'ऊपर' (उपरि) का प्रयोग निपात 'प्रति' तथा निमित्त सप्तमी के समान ही होता है, जैसा कि उदाहरणों के साथ लगे कोष्ठकों के विवेचनों से स्पष्ट है।

(५) प्रत्यक्ष, समक्ष आदि का सूचक—संस्कृत का उदाहरण—प्राणत्यागं तवोपरि करिष्यामि (पंचतंत्र)। 'मैं तुम्हारे ऊपर (=समक्ष, सामने) प्राण-त्याग करूँगा।'

हिंदी में 'किसी के ऊपर प्राण देने' का लाक्षणिक प्रयोग तो चलता अवश्य है, पर यहाँ 'ऊपर' 'सामने', 'समक्ष', 'आगे' आदि स्थानवाचक निपात के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत 'उपरि' के इस अर्थ में हिंदी में 'ऊपर', 'पर' चलता है; यथा, 'मैं इस बात को तुम्हारे मुँह पर पुछा दूँगा।' यहाँ 'मुँह पर' का अर्थ 'मुँह के सामने

(तुम्हारे संमुख)' से है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐसे विशिष्ट प्रयोगों की परंपरा हिंदी में अबतक किसी न किसी रूप में जीवित है।

निपात 'ऊपर' (संस्कृत 'उपरि') के इस विवेचन तथा उदाहरण से ज्ञात होता है कि यह प्रायः शुद्ध अधिकरण-परसर्ग के समान ही प्रयुक्त होता है। ऐसे स्थलों पर अधिकरण-परसर्ग का ही प्रयोग करें, तो भी इसका अर्थ व्यक्त हो जायगा।

§ (१६१) **प्रभृति**—वस्तुतः 'प्रभृति' संस्कृत में कभी नाम था, पर अब निपात के रूप में प्रयुक्त होता है। हिंदी में यह अब भी अपने पर्यायवाची 'आदि' की भाँति नाम ही है।

संस्कृत में निपात के रूप में प्रयुक्त 'प्रभृति' प्रायः कालवाचक 'से' की व्यंजना करता है और इसके योग में पंचमी का प्रयोग होता है। उदाहरण—शैशवात्प्रभृति पोषितां—(उत्तररामचरित); मन्मथोद्यानयात्रादिवसात्प्रभृति (मालतीमाधव); आज्ञापय कुतः प्रभृति कथयामि (मुद्राराक्षस)।

हिंदी में ऐसे स्थलों पर साधारणतः केवल 'से' का प्रयोग नाम के पश्चात् कर देते हैं, और अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। अर्थ की पूर्ण व्यंजना के लिये नाम के आगे 'से लेकर' का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार संस्कृत के उपर्युक्त प्रथम उदाहरण का हिंदी-रूप होगा—बचपन (वा शैशव) से लेकर (वा से) पोषित। इसी प्रकार 'कामोपवन की यात्रा के दिन से लेकर (वा से)।'

यहाँ तनिक विचारणीय बात यह है कि, हिंदी में ऐसे स्थलों पर केवल विशुद्ध अपादान-परसर्ग का प्रयोग समझा जाय या और कुछ। जब हम नाम के पश्चात् केवल 'से' का प्रयोग ऐसे स्थलों पर करते हैं तब 'से' के आगे भी 'लेकर' का अर्थ निहित वा छिपा रहता है।

'हम और आप तो बचपन से साथी हैं' का स्पष्ट अर्थ तो यही होता है कि 'हम और आप तो बचपन से लेकर (अबतक) साथी हैं।' तात्पर्य यह कि 'से' वा 'से लेकर' द्वारा 'कालावधि' का अर्थ व्यंजित होता है। तो, हिंदी में 'प्रभृति' के उत्तराधिकार के रूप में 'लेकर' आया और यह जिस नाम के पश्चात् लगाया जाता है वह नाम अपादान के परसर्ग 'से' की आकांक्षा रखता है।

'लेकर' का रहस्य स्पष्ट कर देने के लिये एक और बात कह देनी आवश्यक है। वह यह है कि संस्कृत में 'प्रभृति' का प्रयोग निपात के रूप में प्रयुक्त कृदंत 'आरभ्य' के उपमान (एनालोजी) पर होता है। 'आरभ्य' का अर्थ है—'आरंभ करके'। 'इस कथा को यहाँ से आरंभ करके कहो' का अर्थ होगा 'इस कथा को यहाँ से वा से लेकर कहो।' हिंदी के 'लेकर' का मूल वस्तुतः संस्कृत का 'आरभ्य' है, और 'प्रभृति' 'आरभ्य' के उपमान पर प्रयुक्त होता है; इस प्रकार 'प्रभृति' का हिंदी-रूप भी 'लेकर' ही होगा।

§ (१६२) **यावत्** संस्कृत का 'यावत्' जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है उसी अर्थ में हिंदी का 'तक'। संस्कृत में 'यावत्' के योग में प्रायः द्वितीया का प्रयोग होता है, कभी-कभी पंचमी का प्रयोग भी मिलता है। यह देश तथा काल दोनों सूचित करता है। उदाहरण—कियंतमवधिं यावत् (उत्तररामचरित); असौ त्वया प्राप्यतां स्वगृहं यावत् (कथासरित्सागर); प्राचीं दिशं जगाम यावत्सूर्योदयात् (महाभारत)।

संस्कृत में 'यावत्' द्वितीया तथा पंचमी की आकांक्षा रखता है, यह ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है। हिंदी में 'तक' के योग में कोई कारक-परसर्ग नहीं लगता; यथा, 'मैं यहाँ से रामनगर तक जाऊँगा'; 'पाँच दिनों तक मैं निराहार रहा।'

हिंदी के कुछ संस्कृतज्ञ लेखक 'यावत'[1] का प्रयोग भी करते हैं।

इस प्रकार 'कारक और निपात' का विषय भी संक्षिप्त रूपेण समाप्त होता है। संस्कृत तथा हिंदी दोनों में इन निपातों के अतिरिक्त भी और निपात हैं, जो कारक-विभक्ति वा परसर्ग की आकांक्षा रखते हैं। हमने प्रधान-प्रधान निपातों को ही लिया है और स्यात् इन्हीं के अंतर्गत सब आ गए हैं। अब जो बच गए होंगे वे इन्हीं के पर्यायवाची के रूप में ही प्रयुक्त होते होंगे। कुछ पर तो हम विभिन्न कारकों पर विचार करते हुए ही लिख चुके हैं।

---

१. हिंदी की किन्हीं बोलियों में 'यावत' 'जावत्' के रूप में 'सब', 'कुल'. 'सकल' आदि का अर्थ देता है। बनारसी बोली में 'जावत' इस अर्थ में चलता है—'जावत चीज मँगनी आइल रहल' [जावत चीज = सब चीज]; 'जावत सराजाम महँक गयल' [जावत सराजाम = सब सामग्री]। इस अर्थ में यह प्रायः विशेषण के रूप में नाम के पूर्व लगता है।

(३) निपात के रूप में सविभक्तिक नाम

§ (१६३) यह सर्वविदित तथ्य है कि आधुनिक सभी भाषाओं में उनकी आकर भाषा के शब्द, रूप, उनकी-सी वाक्य-रचना आदि बहुत-सी बातें परंपरया आई हैं। किसी विकसित भाषा को अपनी मूल भाषा की विरासत की प्राप्ति आवश्यक भी है; और वह विरासत इन्हीं रूपों में प्राप्त होती है।

हिंदी को भी अपनी मूल वा आकर भाषा संस्कृत से देन मिली है; हमें यहाँ हिंदी में प्रयुक्त संस्कृत के कारक-विभक्ति के मूल 'रूप' पर ही कुछ विचार करना है। हिंदी-वाक्यों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उनमें बहुत से नाम संस्कृत कारकों की विभक्तियों को (प्रायः तृतीया तथा पंचमी की विभक्तियों को) धारण किए हुए हैं; यथा पूर्णरूपेण, बलात् आदि। उनको (हिंदी-वाक्यों को) देखने से यह भी विदित होता है कि ये विभक्तियाँ किसी भी लिंग के शब्द के एक ही वचन में लगती हैं। हिंदी-वाक्यों में 'पूर्णरूपेण' तथा 'बलात्' आदि प्रयुक्त होते हैं, 'पूर्णरूपाभ्याम्' वा 'पूर्णरूपैः' वा 'बलाभ्याम्' वा 'बलेभ्यः' प्रयुक्त नहीं मिलते।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि हिंदी में संस्कृत की विभक्तियों को पहने हुए इन वा ऐसे शब्दों को किस पदजात की श्रेणी में रखा जाय; संस्कृत में तो ये निश्चय रूपेण विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय की कोटि में रखे जायँगे। हिंदी में इनके प्रयोग द्वारा स्पष्ट लक्षित होता है कि ये यहाँ भी निपात वा अव्यय के रूप में प्रयुक्त हैं। ये सदैव एक रूप में (बिना व्यय हुए) ज्यों के त्यों प्रयुक्त होते हैं; सदैव एक

वचन में स्थिर वा स्थित रहते हैं। नीचे हम हिंदी के कुछ ऐसे वाक्यों को उद्धृत करेंगे जिनमें संस्कृत विभक्तियों को पहने हुए कुछ नाम निपात के रूप में प्रयुक्त हैं।

§ (१६४) ऊपर हमने इस बात पर संकेत किया है कि हिंदी में प्रायः संस्कृत की तृतीया तथा पंचमी विभक्ति से युक्त नाम ही मिलते हैं। पहले हम तृतीया की विभक्ति से युक्त नामों को देखेंगे।

(क) परंतु शब्द-रचना से यह अर्थ स्पष्टतया नहीं निकलता (मेघदूत); इसी प्रकार पंडित मंडली जिन बातों के लिये कबीरदास को घमंडी समझती है वे भी किसी न किसी रूप में प्राचीनतर आचार्यों से परंपरया प्राप्त हुई थीं (हिंदी-साहित्य की भूमिका); यदि तुम समझ सकते हो तो पूर्णतया, नहीं तो बिल्कुल ही नहीं (चित्रलेखा)।

संस्कृत तथा हिंदी दोनों की दृष्टि से 'स्पष्टता', 'परंपरा' तथा 'पूर्णता' एक वचन, स्त्रीलिंग शब्द (नाम) हैं। इनमें तृतीया की विभक्ति (टा) 'आ' को 'या' (स्त्रीलिंग के कारण 'आ' का 'या') करके लगाया गया है, इस प्रकार इनका रूप 'स्पष्टतया', 'परंपरया' तथा 'पूर्णतया' बना। प्रथम तथा तृतीय उदाहरणों में तृतीया का प्रयोग सहचार (पूर्वक, साथ, से) व्यक्त करने के लिये हुआ है। द्वितीय उदाहरण में तृतीया का प्रयोग अविरतत्व-बोधनार्थ है।

इसी प्रकार के और प्रयोग भी हिंदी में चलते हैं; जैसे, विशेषतया आदि।

(ख) यदि महाजनों से कभी काम पड़ा हो तो आप को निश्चय होगा कि प्रगट में जो धर्म, जो ईमानदारी, जो भलमंसी दीख पड़ती है वह गुप्तरूपेण कै जनों में कहाँ तक है (प्रताप-समीक्षा); भारतवर्ष की मध्य-कालीन प्राकृत भाषाओं में इस प्रकार की विवृति आधिक्येन देखी जाती है (भाषाविज्ञान); स्वामिनी ने आज्ञा दई है के प्यारे

सों कही दै चंद्रावली की कुंज मैं सुखेन पधारौ (चंद्रावली नाटिका); दर्शकों को भी सम्यक् प्रकारेण बताने के लिये तथा उस अंधकार को क्षण भर के लिये मिटाने के हेतु गंधक जलाकर आज भी ज्योति की जाती है (शेष स्मृतियाँ)।

'गुप्तरूप', 'आधिक्य' आदि भी नपुंसक लिंग, एक वचन में हैं, इनमें भी संस्कृत की तृतीया विभक्ति लगाई गई है [देखिए ऊपर (क)]। ये भी सहचारवाचक हैं।

हिंदी में ऐसे प्रयोग अति प्रचलित हैं। कम से कम 'येनकेन-प्रकारेण' से तो सभी परचित हैं।

(ग) तुलसीदास में अपने को पतित समझकर भगवान् को सर्वात्मना समर्पण कर देने की भावना मध्ययुग के तमाम भक्तों की अपेक्षा अधिक है (हिंदी-साहित्य की भूमिका); तुलसीदास प्रकृत्या भावुकता को पसंद नहीं करते थे (वही); भगति भजन हरि नाँव है, पूजा दुक्ख अपार। मनसा, बाचा, क्रमनां, कबीर सुमिरण सार (कबीर ग्रंथावली); किं-बहुना पंत जी की यह प्रतिभा अपरिमेय है (सुमित्रानंदन पंत); चंदहिं चकोर करै सोऊ ससि देह धरै, मनसा हू ररै एक देखिबे कों रहै द्वै (रसखान और घनानंद); मनसा, वाचा और कर्मना स्यामसुंदर सों हेत (भ्रमरगीतसार); मनसि, बचन, कर्मना कहत हौं नाहिंन अब कछु राखी (वही)।

उपर्युक्त उदाहरणों में एक वचन, पुल्लिग 'आत्मन्' शब्द में तथा अन्य लिंग के शब्दों में भी तृतीया विभक्ति लगाई गई है, ये भी सहचार का अर्थ व्यक्त करते हैं।

इन उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट हो गया होगा कि संस्कृत की तृतीया विभक्ति से युक्त नाम हिंदी में निपात के रूप में प्रायः सहचार की व्यंजना करते हैं।

§ (१६५) 'रामचरितमानस' का 'स्वांतःसुखाय' हिंदी में खूब चलता है। यह संस्कृत नपुंसक लिंग, एक वचन 'सुख' शब्द की चतुर्थी (संप्रदान-परसर्ग—को, के लिये) है। इसी के उपमान (एनालोजी) पर लोग हिंदी में किसी भी लिंग, वचन के शब्द में चतुर्थी का प्रयोग कर देते हैं। जैसे, इस प्रकार पहले भाषा की कुछ ध्वनियाँ 'स्वांतःसुखाय' अथवा 'स्वात्माभिव्यंजनाय' उत्पन्न होती हैं पर उनको भाषण का रूप देनेवाली मनुष्य की समाज-प्रिय प्रवृत्ति ही है (भाषा-रहस्य); जिनके रूप या कर्म कलाप जगत् और जीवन के बीच में उसे सुंदर लगते हैं उन्हीं के वर्णन में वह 'स्वांतःसुखाय' प्रवृत्त होता है (चिंतामणि); यद्यपि दोनों महात्माओं और महाकवियों ने जो भी कविता की सब 'स्वांतःसुखाय' की (सूर-पंचरत्न)।

आजकल के राजनीतिज्ञों द्वारा 'जनताजनार्दनाय' तथा 'बहुजन-हिताय' का प्रयोग भी खूब होता है।

कुछ वर्षों पूर्व वेद-वाक्य 'कस्मैदेवाय हविषा विधेम' में से केवल 'कस्मैदेवाय' को लेकर हिंदी-संसार में प्रचुर वावेला मचा था। इसके पवर्त्तक संपादकप्रवर पं० बनारसीदास चतुर्वेदी थे। इस 'कस्मैदेवाय' ने यहाँ इतना प्रभुत्व जमाया कि यह कविता के शीर्षक के रूप में भी आने लगा। कविवर 'दिनकर' की 'रेणुका' में 'कस्मैदेवाय' शीर्षक एक कविता विद्यमान है।

§ (१६६) संस्कृत की पंचमी विभक्ति से युक्त नाम हिंदी में निपात के रूप में—

(क) कारक प्रकरण में अपादान का अर्थ बतलाते हुए जगदीश ने प्रसंगात् लिखा है—(मेघदूत); तस्मात् अंत को यही सिद्ध होता है कि "साधारण जीवन और ऊँचा विचार" यही पुष्ट सभ्यता है (साहित्य-सुमन)।

उपर्युक्त उदाहरणों में एक वचन पुल्लिग 'प्रसंग' तथा नपुंसक लिंग 'तद्' (वह) नामों में पंचमी की विभक्ति '(ङ सि) अस्' लगाने से 'प्रसंगात्' तथा 'तस्मात्' रूप बना है। ऊपर के वाक्यों में अपादान-विभक्ति का प्रयोग कारण सूचित करने के लिये हुआ है। तस्मात् = उस कारण = उसलिए (= इसलिए)।

अपादान के इस अर्थ को (कारण को) और 'अधीनता' को भी सूचित करने के लिए हिंदी में नाम के आगे 'वश' शब्द लगाने की खूब चलन है; जैसे—दुर्भाग्यवश इस तरफ पंडितों का जितना ध्यान आकृष्ट होना चाहिए था उतना हुआ नहीं है (हिंदी-साहित्य की भूमिका); दुर्भाग्यवश दोनों ही एक दूसरे के जीवन में विना जाने हुए अपनी-अपनी साधनाओं को भ्रष्ट करने के लिए आ गए हैं (चित्रलेखा)। दुर्भाग्यवश = दुर्भाग्य के कारण वा दुर्भाग्य के अधीन होकर। यह 'वश' कारण वा अधीनता के बोधन के लिये और शब्दों में भी लगाया जाता है; यथा, कारणवश, प्रसंगवश आदि।

ये सब निर्विभक्तिक प्रयोग हैं, जो कारण वा हेतु का बोध कराते हैं। इनका विवेचन हमने आगे के विषय को स्पष्ट करने के लिये किया है।

इस 'वश' (= अधीनता) में भी संस्कृत की पंचमी विभक्ति लगाई जाती है; यथा, उन दिनों कार्यवशात् पहले ही से पाताल को चले गए थे (श्यामा स्वप्न)। कार्यवशात् = कार्य की अधीनता से। 'कारणवशात्, भाग्यवशात् आदि प्रयोग भी प्रचलित हैं।

(ख) संस्कृत की पंचमी विभक्ति का प्रयोग सहचारबोधक तृतीया की ही भाँति हिंदी में प्रायः प्रचलित है—

ज्ञानशंकर की समृद्धि और अंत में उसकी आत्मतुष्टि देखकर हठात् कहने को जी चाहता है, जैसे तुम्हारे दिन बहुरे, वैसे सबके दिन बहुरें (प्रेमचंद); और कुर्सी पर कसकर बैठ गया, जैसे उसको

बलात् किसी के द्वारा घसीटे जाने का भय हो (कुंडलीचक्र); इस कथन में अध्यात्म को बलात् लोकसंग्रही रूप देने का या उसकी ऐकांतिक अनुभूति अस्वीकार करने का कोई आग्रह नहीं है (आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा)। हठात्=हठ से (हठपूर्वक), बलात्=बल से (बलपूर्वक)। और उदाहरण—विनय के बल से हमारा हृदय ईश्वर की ओर हठात् आकृष्ट हो जाता है (सूर-साहित्य)।

इन उदाहरणों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि हिंदी में करण तथा अपादान के विभक्ति-ऐक्य के कारण जिस प्रकार अर्थ-बोधन में कभी-कभी व्यवधान उपस्थित होता है उसी प्रकार संस्कृत से आई तृतीया तथा पंचमी की विभक्तियाँ भी स्पष्टरूपेण भिन्न होने पर भी हिंदी की गड़बड़ी के कारण यहाँ आकर अव्यवस्थित हो गईं; पर, तनिक विचार करने पर यह गड़बड़ी स्पष्ट हो जाती है, इसके सुलझाव का उपाय यह है कि हेतु में तृतीया और पंचमी दोनों का प्रयोग होता है। 'हठात्' भी यहाँ 'हठेन' का अर्थ देता है। हिंदी में संस्कृत की तृतीया तथा पंचमी एक हो गई। पंचमी तृतीया का अर्थ दे रही है।

§ (१६७) संस्कृत का तद्धित प्रत्यय 'तसिल्' (तस्)='तः' संस्कृत में पंचमी तथा सप्तमी के भी अर्थों में नाम के पश्चात् लगाया जाता है। यह प्रत्यय संस्कृत से हिंदी में भी आया है, और यहाँ इसका खूब प्रचार है। संस्कृत का उदाहरण—अस्तीहेतुमती नाम पुरी तस्याश्च पार्श्वतः नदी (कथासरित्सागर)। हिंदी का उदाहरण—इस निर्माण और ध्वंस में जो शक्ति प्रधानतः काम कर रही है उसे हम महाजनी सभ्यता कह सकते हैं (प्रेमचंद); यह नाद मूलतः एक होकर भी औपधिक संबंध के कारण अर्थात् भिन्न उपाधियों से युक्त होने के कारण सात स्वरों में विभक्त है (हिंदी-साहित्य की भूमिका); वस्तुतः राजयोग ही योगी का काम्य है (वही);

प्रथमतः जिस भाषा के धातु या शब्द से परसर्ग व्युत्पन्न माना जाय उस भाषा में वह धातु या शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त होता हो न कि आधुनिक रूप के आधार पर एक अप्रसिद्ध मूल की कल्पना की जाय[१] (बनारसी बोली); सर्वांशतः तुम इतने दिन उस तसवीर के हो कर रहे भी तो हो (सुनीता)।

उद्धृत वाक्यों को देखने से ज्ञात होगा कि इनमें 'तः' प्रत्यय का प्रयोग पंचमी तथा सप्तमी दोनों के अर्थों में हुआ है। 'प्रधानतः' का अर्थ 'प्रधानरूप से' तथा 'प्रधानरूप में' दोनों होगा। यह प्रत्यय हिंदी के अनेक शब्दों में लगाया जाता है; यथा, विशेषतः, यथार्थतः ज्ञानतः आदि।

---

१. 'प्रथमतः' की भाँति 'द्वितीयतः' भी इस पुस्तक में प्रयुक्त है।

(४) कारक और कृदंत

§ (१६८) संस्कृत तथा हिंदी दोनों में कुछ कृदंत ऐसे हैं जो कारक-रचना में योग देते हैं। वे कभी शुद्ध कारक-विभक्ति वा परसर्ग के रूप में प्रयुक्त होते हैं (यथा, 'गत' अधिकरण-विभक्ति वा परसर्ग के रूप में) और कभी निपात के रूप में प्रयुक्त होकर किसी कारक-विभक्ति वा परसर्ग की आकांक्षा रखते हैं (यथा, संस्कृत 'मुक्त्वा,' 'परितज्य' और हिंदी 'छोड़कर', 'भए', 'होकर' आदि)।

जो क्रिया निष्ठा (भूतकालिक कृदंत) का रूप धारण करके कारक विभक्ति के समान प्रयुक्त होती है उसके विषय में कोई विवाद नहीं है, क्योंकि केवल 'गम्' धातु से निर्मित 'गत' निष्ठा ही यह कार्य करता है। यह संस्कृत में प्रयुक्त होता है और इसकी परंपरा ज्यों की त्यों हिंदी में भी आई है। रह गई अन्य क्रियाओं से निर्मित पूर्व-कालिक कृदंतों की बात, जो इस रूप में (पूर्वकालिक कृदंत के रूप में) प्रायः निपात का कार्य करते हैं। सभी क्रियाएँ पूर्वकालिक कृदंत के रूप में परिवर्त्तित होती हैं; तो, क्या सभी कृदंत निपात का रूप ले सकते हैं ! वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। जो कृदंत 'स्व'-रूप में स्थित रहकर भी निपात के रूप में प्रयुक्त होते हैं वे ही निपात की श्रेणी में रखे जा सकते हैं; सभी पूर्वकालिक कृदंत निपात नहीं हो सकते। जैसे; संस्कृत का 'मुक्त्वा' हिंदी का 'छोड़कर' निपात 'अतिरिक्त', 'बिना' आदि के रूप में प्रयुक्त होते हैं। तो, ऐसे ही पूर्वकालिक कृदंत निपात नाम के अधिकारी हैं।

आगे हम संक्षेप में इनके विषय में विचार करेंगे।

§ (१६६) **गत**—संस्कृत 'गम्' धातु से निर्मित भूत कृदंत 'गत' अधिकरण-विभक्ति वा परसर्ग के रूप में प्रयुक्त होता है। नवीन तथा प्राचीन दोनों हिंदी में यह तत्सम रूप में इसी अर्थ में प्रचलित है। संस्कृत का उदाहरण—आवयोर्हस्तगतं जातम् (पंचतंत्र); गवाक्ष-गता तिष्ठति (मालविकाग्निमित्र); गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति; दंष्ट्रामध्यगतं कृत्वा (पंचतंत्र); जनस्थानगता द्रुमाः (रामायण); पश्य लक्ष्मण वैदेह्या मृगत्वचि गतां स्पृहाम् (वही); सखीगतं किमपि पृच्छामः (अभिज्ञान शाकुंतल)।

उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा यह ज्ञात होता है कि 'गत' का प्रयोग सर्वत्र अधिकरण-विभक्ति के अर्थ में हुआ है। कारकों पर विचार करते हुए हमने देखा है कि अधिकरण तथा संबंध-परसर्गों का प्रयोग अनेक स्थलों पर वैकल्पिक होता है। 'गत' का प्रयोग भी संबंध परसर्ग के अर्थ में चलता है। जैसे, उपर्युक्त एक उदाहरण में 'गुरुगतां विद्यां' का तात्पर्य है 'गुरु में स्थित विद्या' अर्थात् 'गुरु की विद्या'। इसी प्रकार 'जनस्थान गता द्रुमाः'='जनस्थान में स्थित द्रुम'=जनस्थान के वृक्ष'।

'गत' का प्रयोग निमित्त तथा विषय सप्तमी के रूप में भी होता है, उदाहरणार्थ क्रमशः उपर्युक्त अंतिम, प्रथम तथा द्वितीय उदाहरण देखने चाहिए।

हिंदी का उदाहरण—मरकत-भाजन-सलिल-गत इंदुकला कैं वेख। झीन झगा मैं झलमलै स्यामगात नखरेख (बिहारी-रत्नाकर); गरमी से उसके प्राण कंठ-गत होने लगे (विदा); देत सप्त त्रसरेणु-योग अणु एक बनाई भवनरंध्रगत रविकर में जो परत लखाई (बुद्ध-चरित); लेकिन फिर भी दीक्षा-गत संबंध न होने के कारण इसे प्रत्यक्ष संबंध नहीं कह सकते (हिंदी-साहित्य की भूमिका)।

हिंदी में भी 'गत' का प्रयोग संबंध कारक के परसर्ग के अर्थ में होता है; यथा, 'भवनरंध्रगत रविकर में' का अर्थ है 'भवन रंध्र में स्थित रविकर में' अर्थात् 'भवन रंध्र के रविकर में।'

'गत' का प्रयोग यहाँ भी निमित्त तथा विषय सप्तमी के अर्थ में होता है। उदाहरण—(निमित्त सप्तमी)--काव्य-विषयगत रुचि का विकास तथा परिष्कार प्रत्येक युग में होना आवश्यक है। विषय सप्तमी का उदाहरण उपर्युक्त अंतिम वाक्य है। 'दीक्षागत संबंध' का अर्थ है 'दीक्षा संबंधी संबंध' अर्थात् 'दीक्षा के विषय का संबंध।'

हिंदी में संस्कृत का 'स्था' धातु 'स्थ' के रूप में कृदंत 'गत' का अर्थ देता है। यह 'गत' की ही भाँति नाम के पश्चात् प्रयुक्त होता है। जैसे, हृदयस्थ (हृदय में), नगरस्थ (नगर में) आदि। इन उदाहरणों से ज्ञात होगा कि 'स्थ' भी 'गत' की ही भाँति प्रायः 'स्थित होना', 'बैठना', 'रहना' आदि का अर्थ देता है। 'स्था' धातु का अर्थ ही है 'स्थित होना', 'बैठना' आदि। इस प्रकार 'हृदयस्थ' का अर्थ हुआ 'हृदय में स्थित' = 'हृदय में।' इसी प्रकार 'नगरस्थ' का अर्थ है 'नगर में स्थित' = 'नगर में'।

हिंदी के नवीन तथा प्राचीन दोनों लेखकों में इसका प्रचुर प्रयोग प्राप्त है। उदाहरण—नाटक शब्द की अर्थ-ग्राहिता यदि रंगस्थ खेल ही में की जाय तो हम इसके तीन भेद करेंगे (नाटक); आप इस बात को हृदयस्थ कर लें कि प्रगतिशील साहित्य का प्रभूत अंश भविष्य में केवल इतिहास की ही सामग्री प्रस्तुत कर सकेगा।

'स्वस्थ' का यौगिक अर्थ भी 'अपने में स्थित' = 'अपने में' ही है। इस प्रयोग के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं।

§ (१७०) **सहित, रहित**—संस्कृत तथा हिंदी दोनों में कृदंत 'सहित'; 'रहित' निपात 'के साथ', 'पूर्वक', 'बिना', 'अतिरिक्त' तथा इन्हीं निपातों के पर्यायों का अर्थ देते हैं। 'सह' आदि निपात की

भाँति संस्कृत में इसके योग में तृतीया का प्रयोग होता है, और हिंदी में 'सहित' संबंध-परसर्ग की आकांक्षा रखता है और 'रहित' अपादान-परसर्ग की। संस्कृत में कहीं-कहीं इसके योग में पंचमी का प्रयोग भी प्राप्त है। देखिए § ८४ (र)। पर, निपातों के रूप में ये कृदंत प्रयुक्त होकर प्रायः नाम के साथ समस्त रूप धारण कर लेते हैं। हिंदी में संज्ञा के साथ तो इनकी प्रायः ऐसी ही व्यवस्था दिखाई पड़ती है, यथा, 'पिता-सहित-रहित' का अर्थ होगा—'पिता के साथ—के बिना।' हाँ, सर्वनाम के साथ इनका समास गद्य में प्रायः नहीं मिलता, पद्य में मिलता भी है तो बहुत ही कम। आधुनिक हिंदी-कविता में तो ऐसा प्रयोग एक प्रकार से होता ही नहीं। आजकल कोई 'तुम सहित वा रहित' न लिखता है और न बोलता ही है; लोग 'तुमसे रहित' और 'तुम्हारे सहित' का ही प्रयोग करते हैं। 'तुमसे रहित'='तुम्हारे बिना,' 'तुम्हारे सहित'='तुम्हारे साथ—पूर्वक आदि।' इसी प्रकार 'सहित' तथा 'रहित' निपातों के पर्यायवाची निपातों के विषय में भी समझना चाहिए। देखिए § १५७।

संस्कृत तथा हिंदी दोनों में 'रहित' के पर्यायवाची रूप में कृदंत 'वीत' भी प्रचुर रूप से चलता है। यह प्रायः बहुव्रीहि समास में नाम के पूर्व लगाया जाता है; जैसे, 'वीतदयः', 'वीतशोकः' आदि। हिंदी में भी ये संस्कृत के ही रूप में प्रयुक्त होंगे, यथा, 'वीतशोक', 'वीतदय'। इसी प्रकार 'वीतराग' आदि शब्द भी प्रचलित हैं। 'वीतराग' का अर्थ होगा 'राग रहित—राग हीन' आदि।

§ (१७१) उद्दिश्य—संस्कृत में यह पूर्वकालिक कृदंत कभी-कभी निपात 'प्रति', 'निमित्त', 'विषय' आदि का बोध कराता है। इस स्थिति में इसके योग में द्वितीया का प्रयोग होता है। उदाहरण—स्वगृहमुद्दिश्य प्रपलायितः (पंचतंत्र); ब्राह्मणानुद्दिश्य पाकः (मुद्राराक्षस)।

उपर्युक्त उदाहरणों का हिंदी-रूप इस प्रकार का होगा—अपने घर को उद्देश्य करके भाग गया, ब्राह्मणों को उद्देश्य करके पाक (भोजन के पकाने की क्रिया)। प्रथम उदाहरण का सीधा-सादा अर्थ है 'अपने घर को—घर की ओर—भाग गया।' इसी प्रकार दूसरे का अर्थ है, 'ब्राह्मण के लिये पाक।'

हिंदी में 'उद्दिश्य' की भाँति कोई पूर्वकालिक कृदंत निपात के रूप में प्रयुक्त होता नहीं दिखाई पड़ता।

§ (१७२) **पुरस्कृत्य, अधिकृत्य** आदि—संस्कृत में 'पुरस्कृत्य', 'मध्येकृत्य', 'अधिकृत्य', 'आश्रित्य', 'उपेत्य', 'संख्याय' पूर्वकालिक कृदंत विषयवाचक निपात के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनके साथ भी द्वितीया ही लगती है। एक-एक को लेकर हम इन पर संक्षेप में विचार करते हैं।

(१) **पुरस्कृत्य**—'पुरस्कृत्य' का अर्थ है 'आगे करके'। उदाहरण—मित्रतां च पुरस्कृत्य किञ्चिद्वक्ष्यामि तच्छृणु (पंचतंत्र)। इसका ज्यों का त्यों हिंदी-अनुवाद होगा—'और मित्रता को आगे करके मैं कुछ कहता हूँ, उसे सुनो।' 'मित्रता को आगे करके' का तात्पर्य है—'मित्रता के विषय में।'

(२) **अधिकृत्य**—'अधिकृत्य' का अर्थ है 'अधिकार में करके', 'लेकर'। उदाहरण—अहं तु तामेव शकुंतलामधिकृत्य ब्रवीमि (अभिज्ञान शाकुंतल)। 'मैं उसी शकुंतला को लेकर कहूँगा।' 'शकुंतला को लेकर'='शकुंतला के विषय में'।

(३) **उपेत्य**—'उपेत्य' का अर्थ है 'लेकर'। उदाहरण—उवाच कुब्जा भरतस्य मातरं हितं वचो राममुपेत्य चाहितम्—(रामायण)। 'कूबड़ी ने भरत की माता को (के विषय में, के लिये) भलाई की बात कही और राम को लेकर अहित की बात', 'राम को लेकर'='राम के लिये—विषय में'।

(४) **संख्याय**—'संख्याय' की अभिधा तो है 'गिनकर', पर यह 'ख्यालकर' के अर्थ में चलता है। उदाहरण—वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च। भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वशुरो ददौ (रामायण)। यहाँ 'संख्याय' का अर्थ है 'ख्यालकर'। 'ख्यालकर' भी येनकेनप्रकारेण 'विषय में' के ही अर्थ को व्यक्त कर रहा है।

उपर्युक्त कृदंत 'आगे करके', 'लेकर', ख्यालकर' की व्यंजना करते हैं। इन सब के द्वारा किसी न किसी रूप में 'लेकर' की ही व्यंजना होती है। 'अधिकृत्य' तथा 'उपेत्य' तो स्पष्टरूपेण 'लेकर' को ही व्यक्त करते हैं।

हिंदी में इस 'लेकर' का खूब प्रचार है। यह विषयबोधक निपात का अर्थ-बोधन भी करता है। 'आज मैं भाषाविज्ञान को लेकर कुछ कहूँगा' का अर्थ है 'आज मैं भाषाविज्ञान के विषय में कुछ कहूँगा।' इसी प्रकार 'आजकल प्रगतिशील शब्द को लेकर हिंदी में खूब बावेला मचा है।' शिक्षित जनता-में 'लेकर' का प्रचुर प्रयोग प्रचलित है।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि संस्कृत के इन कृदंतों के (विशेषतः अधिकृत्य तथा उपेत्य के) प्रयोगों की परंपरा हिंदी में अबतक सुरक्षित है।

§ (१७३) **आदाय, गृहीत्वा**—संस्कृत में ये दोनों कृदंत सहवाचक निपात के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनका हिंदी-रूप होगा—'लेकर'। पर, ऊपर के 'लेकर' से यह 'लेकर' भिन्न है। उदाहरण—ततः प्रविशति कुशामादाय यजमानशिष्यः (अभिज्ञान शाकुंतल); वित्तमादाय समायातः (पंचतंत्र)। इनका हिंदी-अनुवाद होगा—'तब यजमान का शिष्य कुश लेकर प्रवेश करता है'; 'वह धन लेकर आया।' 'कुश लेकर' = 'कुश के साथ', 'धन लेकर' = 'धन के साथ'।

इसी प्रकार—गृहीत्वा वैदेहीं……गुहामाश्रय'। 'वैदेही को लेकर गुफा में जाओ।' 'वैदेही को लेकर'='वैदेही के साथ'।

कुछ स्थलों पर सहवाचक निपात 'लेकर' का प्रयोग भी हिंदी में मिलता है। जैसे—मैं डूबूँगा भी तो सबको लेकर। यहाँ 'सब को लेकर' का अर्थ है 'सब के साथ'। इसी प्रकार इसके और प्रयोग भी चलते हैं।

बनारसी बोली में भी 'लेकर' का प्रयोग सहवाचक निपात के अर्थ में प्राप्त है; यथा, कन्नू साव क बिटिअवा अपने देवर के लेके बइठ गइल।' 'देवर के लेके'='देवर के साथ'।

संस्कृत तथा हिंदी के उदाहरणों पर विचार करने से ज्ञात होगा कि संस्कृत की अपेक्षा हिंदी में इसका प्रयोग अधिक सुष्ठु रूप में चलता है। यहाँ 'लेकर' का प्रयोग एक प्रकार से लाक्षणिक अर्थों में होता है।

§ (१७४) मुक्त्वा; वर्जयित्वा, परितज्य—संस्कृत के ये पूर्वकालिक कृदंत निपात 'अतिरिक्त' के रूप में प्रयुक्त होते हैं। हिंदी में वे तत्सम रूप के अनूदित रूप 'छोड़कर' के रूप में भी प्रचलित हैं और 'अतिरिक्त' के रूप में भी। तात्पर्य यह कि हिंदी का 'छोड़कर' कृदंत भी निपात के रूप में प्रयुक्त होता है। देखिए § ६३ (फ) और § १५१ (३)। संस्कृत का उदाहरण—धर्मं मुक्त्वा नान्या गतिरस्ति (पंचतंत्र); निपेतुश्च नरा सर्वे तेन शब्देन मोहिताः। वर्जयित्वा मुनिवरं राजानं तौ च राघवौ (रामायण); मयाद्यैनं शृगाल-शिशुं परितज्य न किंचित्सत्त्वमासादितम्—(पंचतंत्र)।

हिंदी में इन तीनों कृदंतों का अनुवाद 'छोड़कर' के ही रूप में होगा। 'छोड़कर' का प्रयोग भी निपात 'अतिरिक्त' के अर्थ में होता है। जैसे, एक भगवान् को छोड़कर और कोई किसी का नहीं होता; तुम्हें छोड़कर और किसकी शरण जाऊँ! 'भगवान् को छोड़कर'=

'भगवान् के अतिरिक्त', 'तुम्हें छोड़कर' = 'तुम्हारे अतिरिक्त'। 'छोड़कर' कर्म परसर्ग की आकांक्षा रखता है, और 'अतिरिक्त' संबंध-परसर्ग की।

§ (१७५) **आस्थाय, द्वारीकृत्य** आदि—संस्कृत में आस्थाय, द्वारीकृत्य, अवलंब्य, अधिष्ठाय कृदंत निपात के रूप में चलते हैं। इनके द्वारा प्रायः कारणसूचक तथा रीतिसूचक करण की व्यंजना होती है। इन सबका हिंदी-रूप होगा—सहारा लेकर, सहारे, भरोसे आदि।

संस्कृत का उदाहरण—उपायः को बधे तस्य राक्षसाधिपतेः सुराः। यमहं तं समास्थाय निहन्यामृषिकंटकम् (रामायण); न वयममात्यराक्षसद्वारेण कुमारमाश्रयामहे किं तु कुमारस्य सेनापतिं द्वारीकृत्य (मुद्राराक्षस); राजा। दाक्षिण्यमवलंब्य (मालविकाग्निमित्र)।

दाक्षिण्यमवलंब्य = दाक्षिण्य का सहारा लेकर = दाक्षिण्य के द्वारा = दाक्षिण्य से। यं···समास्थाय = जिसका सहारा लेकर = जिसके द्वारा = जिससे। इसी प्रकार 'द्वारीकृत्य' का अर्थ भी 'द्वारा' ही है।

हिंदी में भी 'सहारा लेकर', 'अवलंब लेकर' (सहारे, भरोसे) कृदंतों के प्रयोग कभी-कभी होते हैं। इसका विशेष प्रचार नहीं है। कुछ उदाहरण—मैं सीढ़ी का सहारा लेकर ऊपर चला जाऊँगा; इस लकड़ी का सहारा लेकर मैं न आ सकूँगा।। यहाँ 'सहारा लेकर' का अर्थ 'द्वारा' है।

पर, हिंदी में 'सहारा लेकर' कृदंत का प्रयोग निपात के रूप में सुष्ठु नहीं प्रतीत होता।

संस्कृत में 'आस्थाय' आदि के योग में द्वितीया का प्रयोग होता है। पर, हिंदी में 'सहारा लेकर' संबंध-परसर्ग की आकांक्षा रखता है।

§ (१७६) **विहाय, अतीत्य**—संस्कृत में ये कृदंत 'किसी की अपेक्षा अधिक' की व्यंजना करते हैं। इनकी अभिधा है 'छोड़कर', 'पार करके', 'बीत करके'। वहाँ ये निपात के रूप में चलते हैं। यथा, मूर्ख अन्यमेव भागधेयमेते तपस्विनों निर्वपंति यो रत्नराशीनपि विहाया-भिनंद्यते—(अभिज्ञान शाकुंतल); अतीत्यैवोत्तरान् कुरून्। पर्वत-श्चित्रकूटोऽसौ बहुमूलफलोदकः (रामायण)।

'रत्नराशीनपि विहाय' का हिंदी रूप होगा—'रत्नराशि को भी अपेक्षा (रत्नराशि को भी छोड़कर)।'

कृदंत 'विहाय' तथा 'अतीत्य' की परंपरा हिंदी में कृदंत के रूप में चलती नहीं दिखाई पड़ती।

§ (१७७) **आरभ्य**—कृदंत 'आरभ्य' निपात 'से' के रूप में प्रयुक्त होता है। इसके द्वारा देश-काल दोनों की व्यंजना होती है। यह पंचमी की आकांक्षा रखता है। देखिए § १६१। उदाहरण—नकुल विवरादारभ्य सर्पविवरं यावत् (हितोपदेश), मालत्याः प्रथमा-वलोकनदिनादारभ्य (मालतीमाधव)।

हिंदी में 'आरभ्य' द्वारा 'से' का अर्थ-बोध होता है। पर, 'आरंभ करके' निपात के रूप में नहीं प्रयुक्त होता। 'यहाँ से आरंभ करके पढ़ो' द्वारा यह तो ज्ञात हो जाता है कि 'यहाँ से पढ़ो', पर स्वयं 'आरंभ करके' निपात के रूप में हिंदी में नहीं प्रचलित है।

पालि में 'आरभ्य' के ही अर्थ में और उसी की भाँति कृदंत 'पट्ठाय'—(प्रस्थाय—प्रस्थान करके, चलकर) चलता है। उदाहरण—अय्य पठमकप्पिकतो पट्ठाय मच्छानं चिंतनकबको नाम नत्थि, त्वं अम्हेसु एकेकं खादितुकामो सी' ति (पालि पाठावलि)।

§ (१७८) संस्कृत तथा खड़ी बोली हिंदी में जिस प्रकार भूत कृदंत 'गत' अधिकरण-विभक्ति वा परसर्ग का अर्थ-बोध कराता है, उसी प्रकार पूरबी अवधी में पूर्वकालिक कृदंत 'भए', 'भै', 'होइ'

करण तथा अपादान-परसर्गों की व्यंजना करते हैं। ये प्रयोग जायसी तथा तुलसी दोनों कवियों में प्राप्त हैं। उदाहरण,—मीत भै माँगा बेगि बिमानू (जायसी-ग्रंथावली); ऊपर भए सो पातुर नाचहिं। तर भए तुरुक कमानहिं खाँचहिं (वही); भरत आइ आगे भए लीन्हें (रामचरितमानस); बैठि तहाँ होइ लंका ताका (जायसी ग्रंथावली); मीत भै=मीत से, ऊपर भए=ऊपर से, तर भए=नीचे से, आगे भए=आगे से, तहाँ होइ=वहाँ से।

यदि उपर्युक्त कृदंतों की विवेचना की जाय तो भी इन कारक-परसर्गों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। ऊपर भए=ऊपर होकर। पातुरें ऊपर होकर नाचतीं हैं का अर्थ है कि (किसी स्थान के) ऊपर जाकर नाचतीं हैं, अर्थात् (किसी स्थान के) ऊपर से नाचतीं हैं।

हिंदी के किसी-किसी प्राचीन लेखक में संस्कृत का 'त्वा' प्रत्यय क्रियाओं के साथ लगा मिलता है, वे तत्सम रूप को ही प्रयुक्त कर देते हैं। जैसे=क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय में **अंततोगत्वा** यों ही कहा जा सकता है (प्रताप-समीक्षा)। अंतोगत्वा=अंत में जाकर=अंत में। यहाँ 'गत्वा' को भी निपात समझना चाहिए।

इस प्रकार 'कारक और कृदंत' का प्रकरण भी समाप्त होता है। इसमें हमें ज्ञात होता है कि हिंदी में अनेक कृदंत संस्कृत की परंपरा से आकर वहाँ की ही भाँति निपात के रूप में प्रयुक्त होते हैं। ऐसे स्थलों पर भी संस्कृत की परंपरा हिंदी में सुरक्षित है।

———

नामानुक्रमणी

अंकगणित (चक्रवर्ती) ३५
अग्निसमाधि और अन्य कहानियाँ ९८, ११६
अन्नंभट्ट २
अभिज्ञान शाकुंतल ३७, ४८, ५२, ५४, ५८, ६५, ६८, ८८, ९३, १०७, ११९, १२२, १२५, १३६, १३७ १३८, १५१, १५३-१५४, १६९, १७१, १८०, १८२, १८४, १८८-१८९, २०४, २०७-२०८, २११
अभिधावृत्तिमात्रिका ९
अष्टाध्यायी २३, ३३, ३९, ४६, ४८-४९, ५१-५३, ५७, ६०, ६३ ६४, ६८, ७०, ८०, ८६, ८८-८९, ९१, ९४-९५, ९७-९८, १००, १२६, १२८, १३०, १५०, १५९ १६८, १७२-१७५, १८१-१८२, १८५
आँसू ११६, ११८
आजाद-कथा १४४
आधुनिक कविः महादेवी वर्मा २०१
इतिहास तिमिर नाशक ३०, ६९, ११०, ११२, १४४
ईशोपनिषद् ८
उत्तर रामचरित (संस्कृत) ३६, ६२, ७१, ७४, १०१, १९३-१९४
उत्तर रामचरित (हिंदी) २०७
उन्मुक्त ४२
उल्नर, ए० सी० ४
ऋग्वेद ३३, ४७, ६८, ७५, ९९, १७२
ए लिंग्विस्टिक इंट्रोडक्शन टु हिस्ट्री ५, ६, ९
एस्पर्सन, ओटो १६
ऐतरेय ब्राह्मण ९०, ९९, १०६, १७४
कथासरित्सागर ३७, ५०, ५४, ५९, ६१, ६८, ७२, ८३, ९०, १०५, १२४, १२९, १३६, १५१, १७२-१७३, १७९, १९०-१९१, १९४, २०१
कबीर १०३, ११२, १२४, १४३-
कबीर-ग्रंथावली २, २४, २८, ३०, ४१-४३, ४५, ५५, ७८, ११०, ११३, १२४, १४०-१४१, १४३-१४४, १९८
काका कालेलकर ६८

कादंबरी ५०, ६६, ८७, ९०, ९३, ९५, १३०

कालिदास ३

काव्यप्रकाश ५१

काव्यमीमांसा ६

काव्य में रहस्यवाद ९०, ९३

काशिकावृत्ति ३५, ८१, १३७, १९१

कीर्तिलता ११०, १५१

कुंडली-चक्र ३०, १०२, १४४, २०१

कुमारसंभव, २७, ६२, १०५, ११६, १५१, १७६

केशव २५

गबन ५६, ६४ ६६, ७७, १२६

गुंजन ८२, १०६, १२७-१२८

गुप्त निबंधावली २५, २६-३२, ३७, १४०, १४४

गोदान ४१, ४४, ४८-४६, ५६, ५६-६२, ६४, ६६-६७, ७२, ७६-७८, ८७, ६२, ६६, १०४, १११, १३२, १३५-१३६, १३६-१४०, १४४, १५२, १८४, १६०

गोस्वामी तुलसीदास १६, २४, ३०, ७०, ७४, १४३, २१२

गोस्वामी तुलसीदास (ग्रंथ) १४६

ग्रामीण हिंदी ७७

ग्राम्या ४३, ६४, १२६

चंद्रावली नाटिका ३०, ६६, १६८

चिंतामणि ६४, ७४, १०१, १४८, १६६

चित्रलेखा ३२, ६६, ८७, ६६, १२८, १३६, १४४, १८१, १६७, २००

छांदोग्योपनिषद् ३६, ४७, ५६, ६८, १०७, ११६, १२३, १२६, १६४, १७३, १८८

जनमेजय का नागयज्ञ १३६

जयशंकर प्रसाद (ग्रंथ) १०३

जायसी १६०, २१२

जायसी ग्रंथावली ५६, १८६, २१२

जैनेंद्रकुमार १४५

तप्तासंवरण २४, ६८, १४५

तर्कदीपिका ११

तर्कभाषा १०

तर्कसंग्रह २, ६, ११, ३३, ७२

तितली २८, ४६, ५०, ५६, ६४, ६६, ७७, ६६, १२६

तुलसी—देखो 'गोस्वामी तुलसीदास'

तैत्तरीयोपनिषद् २, ६३

त्रिशूल ६२-६३, १४४

दशकुमारचरित २७, ४०, ५०, ५३-५४, ५८, ६०, ६२, ६५, ९३, १००, ११६-११८, १२०-१२३, १३७ १३८, १५३, १६५, १८१, १८४-१८५
दिनकर १९९
दि फिलासफी आव् ग्रामर १६
दि हिस्ट्री आव् लैंग्वेज ४
दुर्लभ बंधु ३१-३२, ३८, ७८, १०७, १११, १४४
द्वापर ९९, १०६

धम्मपद ३१, ४२, ५५-५६, ७८, १०२, १११, १२५, १४१, १४३, १५१

नलोपाख्यान १८०
नवीन (बालकृष्ण शर्मा) १४७
नागानंद ८८
नाटक २०५
नासिकेतोपाख्यान २८, ४१, १४१-१४२, १४५
निबंध-रत्नावली १४१
नीतिशतक (भर्तृहरि) ४९
नीरजा १३५
नोअर १
न्यायसूत्र भाष्य ९

पंचतंत्र २९, ३६, ४०-४१, ५२ ५८, ६०-६४, ७२, ७४, ७६, ८४, ९०, ९४, ९९ १०१, १०५ १०६, १०८, ११६ ११७, ११९ १२०, १२३-१२४, १३५, १३७ १३ , १५३, १५५, १५७, १७१, १७९, १८१ १८२, १८४ १८५, १९०-१९२, २०४, २०६ २०९
पतंजलि ८०, ८५
पद्मावत १६०
परमलघुमंजूषा १० ११,
परीक्षागुरु ३२, ३५, ३७, ४२, ५६, ११० १११, १४०, १४२, १४४
पल्लव ८८, १०६
पाणिनि २३, ३८, ५७, ७१, ८०, ८३, १०२, १६१, १६६, १७३-१७४, १८२
पालिपाठावलि ३१, ४२, ५५, ११०, १२५, १५१, १५७, २११
पिता के पत्र पुत्री के नाम १०७
पुरानी हिंदी ३१, ४२, ४५, ७८, १४०, १४२, १५१
पृथ्वीराजरासो १४३
प्रताप-समीक्षा ११०, १९७, २१२
प्रबोधचंद्रोदय ७५, १२१, १२५
प्रह्लादचरित्र १४१

प्रेमचंद (ग्रंथ) ५६, २००-२०१
प्रेमसागर ४४, ११३, १५१

बनारसी बोली २०२
बनारसीदास चतुर्वेदी १६६
बालमुकुंद गुप्त २५
बिहारी २५, ११३
बिहारी बोधिनी ७६
बिहारी-रत्नाकर २५,४३, ११३, २०४
बुधुआ की बेटी ३७
बुद्धचरित ४२, ५६, १३४, २०४
बेन १४६

भट्टिकाव्य ६२, १८६
भर्तृहरि १०१
भागवत पुराण १२३
भारतजननी २६
भाषा-रहस्य १६६
भाषाविज्ञान ६३, ६६, ७२, ७५, ८८, १६७
भोजप्रबंध १५३, १८०, १८२
भ्रमरगीतसार ७८, १४२-१४३, १४६, १५१, १६८

मतिराम ५६
मनुस्मृति ६३, ६६
महात्मा ईसा १४८
महाभारत ३४, ६१, ६३-६४, ८५, ८८, ९४, ९६, १०१, १०६, ११७, १२१, १२५-१२६, १३५, १३७, १६३-१६४, १७४, १८८, १९४
महाभाष्य ३, २०, ३८, ५०-५२, ६७, ७०, ८०, १८२-१८३
मानस—देखो 'रामचरितमानस'
मालतीमाधव १०१, १३५, १७०, १९३, २११
मालविकाग्निमित्र ४१, ५६, ६०, ६३, ९२, १०१, २०४, २१०
मुकुल १२८
मुद्राराक्षस (संस्कृत) ६१, ६४, ८५, ९२, ९५, ९७, १०१, १३४, १५३, १५७, १९२-१९३, २०६, २१०
मुद्राराक्षस (हिंदी) ११-२१, ४४, ४८, ५५
मृच्छकटिक ८१, ९१-९२, ९६, १०६-१०७, १२४
मेघदूत (संस्कृत) ६३, ११८
मेघदूत (हिंदी) १६७, १६६
मैक्सम्यूलर १

यजुर्वेद ३
यशोधरा १४८
युगांत ४६, १११

रघुवंश ३, ७५, ९१, ९५, ९७, १२३, १२६, १२८, १३०, १८८ १८९

रसखान और घनानंद १९८

राजतरंगिणी १०८

राजा लक्ष्मणसिंह २८

रानी केतकी की कहानी ४५, ५६, ६६, ११०, ११२, १३१, १४५

रामचंद्र शुक्ल १००, १२७, १४५

रामचंद्रिका २५

रामचरितमानस ३, ८, १९, ९०, १२२, १३१, १३८, १४०, १६९, २१२

रामायण (वाल्मीकीय) २९-३०, ३३-३४, ३९, ५०, ५९, ६२, ६५, ६९, ७३, ९९, १०१, १०७ ११०, ११६, १२५-१२६, १२९, १३४-१३७, १६२, १८०, १८३, २०४, २०८-२११

रेणुका १९९

लहर ११६, ११९

लीलावती ३५

लैंग्वेज इन हिस्ट्री ऐंड पालिटिक्स ४

वाक्यपदीय १, ७, १४७, १६०

वार्त्तिक ५२, ६७, ८६-८७, १८५

विक्रमोर्वशीय ३६, ७६

विदा २७, १६३, २०४

विद्यापति ११२

विद्यासुंदर ३२, ६६

विनयपत्रिका २५

विराटा की पद्मिनी ३५

विश्वप्रपंच ३८

विषस्यविषमौषधम् ५५

वीणा ३७, १४२

वेंड्रीज, जे० ५, ६, ९

वेणीसंहार १८४, १८७

वेदांत परिभाषा ११, १३

शकुंतला नाटक २८, ४२

शतपथ ब्राह्मण ३

शब्दशक्तिप्रकाशिका ७, ९, २०

शांकरभाष्य ७२

शाकुंतल—देखो 'अभिज्ञान शाकुंतल'

शिवशंभु का चिट्ठा २५, ३५

शेष स्मृतियाँ ४४, १०१, ११७, १३८, १९८

श्यामास्वप्न ३७, ४२, ४४, १४२-१४३, २००

श्रीनिवासदास १४५

संचिता १०१

सत्यहरिश्चंद्र नाटक ४३, १४०

साकेत ३२, ४२, ८८
साहित्यदर्पण १० ११
साहित्यसुमन ३१-३२, ३८, १६६
सिंदूर की होली १८४
सिद्ध हेमचंद्र २१
सिद्धांत कौमुदी ४०, ४८, ५३, ६४-६५, ७२, ८६-८७, ८६, ६२, ६५, १२६, १२६-१३१, १८२, १८५
सुनीता १५, ७७, ८२, १४०, १४४-१४५, २०२
सुमित्रानंदन पंत (ग्रंथ) १६८
सूर २४, ७८, १४३
सूर पंचरत्न १६६
सूरसागर ६८
सूर-साहित्य ६८, २०१
स्कंदगुप्त ८८
स्वीट, हेनरी ४

हरिश्चंद्र (भारतेंदु) १०७
हल्दीघाटी ४६
हितोपदेश ३०, ४०, ७०, ७५, १०१, ११७, १३७, १५४, २११
हिंदी-साहित्य का इतिहास (आचार्य शुक्ल) ६६
हिंदी-साहित्य की भूमिका १६७-१६६, २०१, २०४
हेमचंद्र ५८
ह्विट्ने, डब्ल्यू० डी० ६